ISSN: 2348-5558

शिक्षा संवाद

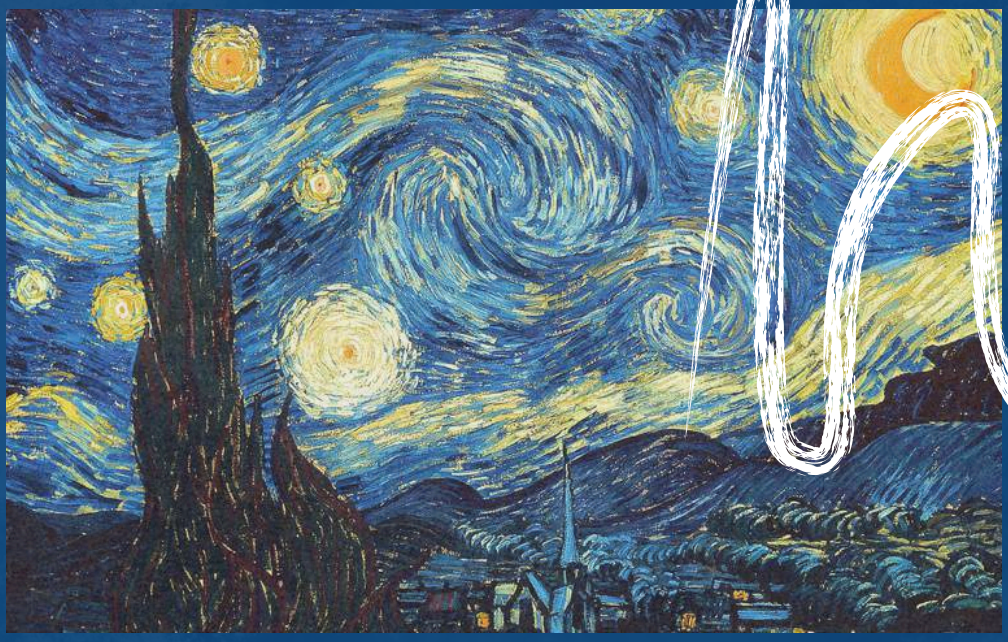

संपादकीय सलाहकार: डॉ. चाँद किरण सलूजा
संपादक: वीरेंद्र कुमार चंदोरिया
सह-संपादक: पूजा सिंह

वर्ष: 11, अंक: 01, जनवरी-जून 2024
संवाद शिक्षा समिति

शिक्षा संवाद

शैक्षिक विमर्श एवं साहित्य की पत्रिका

ISSN: 2348-5558

(Peer-Reviewed)
Refereed Journal

अर्ध-वार्षिक

वर्ष: 11/ अंक: 01 / जनवरी-जून, 2024

प्रकाशन की तिथि
30 जून, 2024

सम्पादकीय सलहाकार
डॉ. चाँद किरण सलूजा

सम्पादक
डॉ. वीरेंद्र कुमार चंदोरिया

सह- सम्पादक
डॉ. पूजा सिंह

संवाद शिक्षा समिति, दिल्ली का प्रकाशन, जून 2024

शिक्षा संवाद - क्रिएटिव कॉमन्स के Attribution-Non-Commercial-NoDerivatives 4.0 International (CC BY-NC-ND 4.0) लाइसेंस के अन्तर्गत है जिसका पूरा विवरण https://creativecommons.org/licenses/by-nc-nd/4.0/ पर उपलब्ध है। इस किताब की सामग्री का क्रिएटिव कॉमंस लाइसेंस के तहत गैर-व्यावसायिक उपयोग किया जा सकता है। ऐसा करते हुए सम्पादक व प्रकाशक का ज़िक्र करना ज़रूरी है। इसके अलावा किसी अन्य उपयोग के लिए, मसलन, पाठ की रीमिक्सिंग, उसमें बदलाव या उसे आधार बनाते हुए कुछ करने के लिए प्रकाशक व सम्पादक से अनुमति लेना ज़रूरी है।

शिक्षा संवाद

शैक्षिक विमर्श एवं साहित्य की पत्रिका

वर्ष: 11/ अंक: 01 / जनवरी-जून, 2024

सम्पादकीय सलहाकार: डॉ. चाँद किरण सलूजा
सम्पादक: डॉ. वीरेंद्र कुमार चंदोरिया
सह- सम्पादक: पूजा सिंह

सम्पादन मण्डल : सदस्य
प्रो. लोकनाथ मिश्रा, मिज़ोरम विश्वविद्यालय, मिज़ोरम
डॉ. आभा श्री, सह-आचार्या, शिक्षा विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
डॉ. तुषार गुप्ता, सहायक आचार्य, शिक्षाशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, उत्तर प्रदेश
डॉ. प्रवीण कुमार सुरजन, शिक्षा संकाय, मौलाना आज़ाद नेशनल उर्दू यूनिवर्सिटी, तेलंगाना
डॉ. रितेश सिंह, सहायक आचार्य, माता सुंदरी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
डॉ. हेदर अली, सहायक आचार्य, जामिया मिलिया इस्लामिया, दिल्ली

संपर्क
शिक्षा संवाद
RZ-673/135, गली न. 19A , साध नगर, पार्ट -2, पालम कालोनी, नई दिल्ली 110045.
दूरभाष - 09868210822. (सम्पादक), ई मेल - sheakshiksamwad@gmail.com

सदस्यता राशि

	व्यक्तिगत	संस्थागत
एक प्रति	250	350
वार्षिक (2 प्रतियाँ)	400	600
दो -वर्षीय (4 प्रतियाँ)	800	1200
तीन वर्षीय (6 प्रतियाँ)	1000	1600
आजीवन (प्रकाशन तक)	15000	20000

शिक्षा संवाद की सदस्यता के लिय केवल बैंक ड्राफ्ट या चेक के माध्यम से 'संवाद शिक्षा समिति' दिल्ली के नाम भेजें।

आवरण चित्र : केनवा के सहयोग से बनाया गया है।

पाठकों एवं लेखकों हेतु दिशानिर्देश एवं शोध नियमावली

शिक्षा संवाद

शैक्षिक विमर्श एवं साहित्य की पत्रिका

'समकक्ष व्यक्ति समीक्षित जर्नल'

(PEER REVIEWED-REFEREED JOURNAL)

ISSN: 2348-5558

शोध आलेख भेजने संबंधी ज़रूरी निवेदन

नमस्कार,

शिक्षा संवाद अर्ध-वार्षिक पत्रिका है। एक वर्ष में दो सामान्य अंक 30 जून, और 31 दिसम्बर को छपते हैं। रचना प्रकाशन हेतु स्वीकृत हुई या नहीं इसकी जानकारी प्रकाशन की तारीख के पंद्रह दिन पहले ही दी जाती है इससे पूर्व नहीं। ज्यादा जानकारी के लिए हम नीचे कुछ सामान्य सूचना इस प्रकार है-

(1) **आलेख का क्षेत्र:** शिक्षा और साहित्य

(2) **प्रकाशन का स्वरुप :** हमारी पत्रिका वर्तमान प्रकाशन तक केवल प्रिंट वर्जन में ही उपलब्ध है। हम छापकर कोई या किसी भी प्रकार का पीडीऍफ़ वर्जन भी नहीं भेज पाते हैं। सदस्यता के अनुसार तथा मांग के अनुरूप ही प्रतियां हम छपवाते हैं जिन्हें आपको प्रकाशक से खरीदनी होती है। हमारी पत्रिका कोई भी इम्पेक्ट फेक्टर स्केल अभी तक जनरेट नहीं किया गया है। हम पत्रिका को जनवरी 2025 से ऑनलाइन माध्यम से उपलब्ध कराने की योजना पर काम कर रहे हैं। इसके लिए हमारी वैबसाइट है - https://www.shikshasamwad.com/

(3) **सामान्य अंक विशेषांक /:** हम हमेशा सामान्य अंक ही प्रकाशित करते हैं। भविष्य में विशेषांक प्रकाशित करने की योजना आवश्य है। जब भी विशेषांक लाने की योजना होगी तो पाठकों एवं लेखकों को पत्रिका के माध्यम से सूचित किया जाएगा।

(4) **तकनीकी पक्ष:** एक बार यदि आपकी कोई रचना शिक्षा संवाद के किसी अंक में प्रकाशित होती है तो उसके तुरंत बाद वाले अंक में आपकी रचना प्रकाशित नहीं होगी। हम 'एक वर्ष - एक रचना' की नीति का अनुसरण करते हैं। ऐसा करके हम अधिक लेखकों तक तथा अधिक पाठकों तक अपनी पहुँच बना सकते हैं। कुछ अन्य तकनीकी पक्ष जिनका ध्यान रखा जन चाहिए-

- भाषा हिंदी केवल : (नोट :शिक्षा संवाद में अंग्रेजी में आलेख नहीं छापे जाते हैं(
- फॉण्ट : केवल Unicode-kokila

- फॉण्ट साइज़ : 18
- सन्दर्भ एंड नोट : (फूट नोट अस्वीकार्य हैं।)
- फाइल वर्ड :2007 - 2010
- पीडीऍफ़ फाइल नहीं भेजें।
- आलेख वाट्स एप पर स्वीकार नहीं कर सकेंगे।
- शब्द सीमा :4500 शब्द (न्यूनतम), 8000 (अधिकतम) विशेष में यह सीमा आगे बढ़ाई जा सकेगी
- रेफरेंस : कम से कम 15
- स्पेसिंग :Top 1 cm, Bottom 1 cm, Left 1 cm, Right 1 cm
- शोध : सार-150 शब्द
- 'बीज शब्द/ Key Words' : न्यूनतम 5
- आलेख के अंत में निष्कर्ष अवश्य हो।
- सन्दर्भ में लिखने का नियम: APA 7 केवल
- लेखक का नाम, पद, पता, ईमेल-, मोबाइल नंबर आलेख के अंत में ज़रूर लिखें।
- हमारा ई: मेल पता है- shaikshiksamwad@gmail.com
- वर्तनी की अशुद्धियों का विशेष ध्यान रखें। आलेख में वर्तनी की अशुद्दियां होने पर आलेख अस्वीकृत होने के सर्वाधिक अवसर मौजूद रहते हैं।

(5) संलग्न /Attachments

- आलेख की मौलिकता और अप्रकाशित होने का सत्यापन। आप लेख भेजते समय लेख के साथ ही ईमेल - में ही लिखकरभेज सकते हैं अथवा प्रयास करें की यूजीसी द्वारा मान्यता प्राप्त किसी Plagrism softwere से प्राप्त रिपोर्ट संलग्न करें तो बेहतर होगा
- आपका फोटो और आलेख में शामिल फोटो, सारणियाँ, टेबल्स, ग्राफ आदि अलग से अटैच करके भेजें।
- आपका कोई एक पहचान पत्र जिसमें फोटो लगा हुआ हो।

(6) प्राथमिकता: सबसे पहले आलेख शामिल करते समय हम अपनी पत्रिका के सदस्यों को प्राथमिकता देते हैं। आपका आलेख स्वीकृत होने पर ही हम सदस्य बनने की अपील आपको भेजेंगे।

(7) अंतिम निर्णय: सामग्री चयन, सम्पादन और प्रकाशन का अंतिम निर्णय सम्पादक मंडल का रहेगा। हम आपकी रचना में सम्पादन के दौरान अपनी तरफ से कोई अंश जोड़ेंगे नहीं पर कुछ अंश ज़रूरत के अनुसार काट-सकेंगे। हटा हुए करते छाँट शोध पत्रों के मामले मे समीक्षकों की समीक्षा अनुसार ही निर्णय नैया जाएगा।

(8) **स्वैच्छिक :** आपको अपनी शिक्षा संवाद के प्रकाशित एक अंक या चयनित रचनाएँ पढ़कर एक पृष्ठ की लिखित टिप्पणी भेजनी होगी कि इस पत्रिका को लेकर आपकी राय क्या है? ताकि हम यह जान सकें कि आप पत्रिका की वैचारिकी से परिचित हैं कि नहीं।

(9) **चयन का प्रोसेज:**

Screening

- शिक्षा संवाद में सबसे पहले प्राप्त रचना को सम्पादक द्वारा स्क्रीन करके चुना जाता है। इस स्तर पर रचना अस्वीकृत होते ही लेखक को तुरंत जवाबी ई मेल-भेजते हैं। हमारे यहाँ यह स्क्रीनिंग कहलाता है।

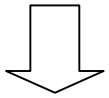

Review Process

- चयनित रचनाओं को सम्बंधित एक्सपर्ट या एक्सपर्ट के पैनल के पास भेजा जाता है जो कंटेंट पर फाइनल निर्णय लेते हैं। इसे रिव्यू कहते हैं। जानकार व्यक्ति अपनी सीमाओं को स्वीकारते हुए रचनाकार के लिए संक्षिप्त टिप्पणी के साथ आलेख को स्वीकृत या अस्वीकृत करता है। यह निर्णय अनंतिम माना जाता है।

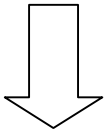

Proof Reading

- तीसरी स्टेज पर हमारे सह करके सम्पर्क से लेखक लिए के अपडेट संबंधी कंटेंट और फोर्मेट सम्पादक-होता करना सहयोग का पत्रिका से लिहाज के गुणवत्ता को रचनाकार यहाँ हैं। बनाते योग्य छपने को रचना है। यहाँ भी गुणवत्ता बनाए रखने के क्रम में आलेख को ज्यादा दिक्कतभरा होने पर अस्वीकृत किया जा सकता है।

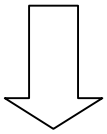

Ready to Print

- यहीं अंतिम रूप से चयनित रचना की प्रूफ रीडिंग की जाती है। अंक छपने की तारीख से दस दिन पहले सभी रचनाएँ तकनीकी टीम के पास प्रकाशन हेतु भेजी जाती है। इस पूरी प्रक्रिया के बारे में सम्बंधित लेखक को लगातार अपडेट करने का प्रयास करते हैं। अंक छपने के बाद लेखक को प्रकाशित रूप को चेक करने के लिए ईमेल से शेयर किया जाता है। सभी की संतुष्टि के बाद अनुक्रमणिका जारी की जाती है।

प्रूफ हेतु ध्यान रखने योग्य बातें

1. सबसे उपर पहले विधा का नाम लिखें जैसे कविता -, शोध आलेख, आलेख, साक्षात्कार या कहानी आदि।
2. पहली पांच पंक्तियों में ही अगर वर्तनी की भारी अशुद्धियाँ हैं तो आलेख का अस्वीकृत होना तय हो जाएगा।
3. शुरुआती रिव्यू में भी चयन का एक ज़रूरी आधार वर्तनी की शुद्धता है।
4. रचना का शीर्षक और लेखक का केवल नाम लिखकर बोल्ड कर दें।
5. 'शोध सार' को बोल्ड करें।
6. 'बीज शब्द' को बोल्ड करें।
7. प्रत्येक पैरेग्राफ के बाद एक इंटर का गेप रखें।
8. पैरेग्राफ की शुरुआत में एक टैब लगाएं।
9. पूरे आलेख में किसी तरह की फोर्मेटिंग से बचें।
10. गणित के अंक अंतर्राष्ट्रीय मानक संख्या 1,2,3,4,5,6,7,8,9,10, में ही लिखें।
11. प्रत्येक सन्दर्भ जब हू हू कहीं से लिया गया है तो-ब-"...." कौमा के अंदर लिखें। संदर्भ समाप्त होने पर संदर्भ संख्या लिखें जैसे 1,2,3,4,5,6,7,8,9,10, और इसका विस्तृत संदर्भ आलेख के अंत में उसी क्रम से सूचीबद्ध करें।
12. आलेख की वर्ड फाइल में अपना खुद का फोटो इन्सर्ट न करें।
13. प्रत्येक वाक्य की समाप्ति पर पूर्ण विराम चिहन अंतिम शब्द के तुरंत बाद चिपका हुआ हो न कि एक स्पेस के बाद। इसी तरह अल्प विराम),) भी शब्द से चिपका हुआ हो और उसके बाद एक स्पेस ज़रूर हो।
14. ( ) के बीच लिखे शब्दों से यह कोष्ठक एकदम सटे हुए हों।
15. (-) योजक चिहन के दोनों तरफ के शब्द योजक चिहन से सटे हुए हों न कि एक स्पेस के बाद।
16. प्रत्येक शब्द के बीच सिंगल स्पेस हो न कि इससे ज्यादा अनावश्यक स्पेस।
17. आलेख में ज़रूरी सन्दर्भ के अलावा अनावश्यक अंग्रेजी शब्दों के इस्तेमाल से बचना चाहिए।
18. 'मूल आलेख' शब्द बोल्ड करें।
19. आलेख में जितने भी उपशीर्षक- आते हैं उन्हें बोल्ड किया जा सकता है।
20. कवितांश के अलावा किसी भी रेफरेंस को बोल्ड नहीं करना हैं ।
21. आलेख के अंत में 'निष्कर्ष' ज़रूर लिखना है।
22. याद रहे शोधसार- और निष्कर्ष में किसी भी रेफरेंस का उपयोग नहीं करना वह एकदम आपकी अपनी भाषा में हों तो बेहतर रहेगा।
23. शोध आलेख न होकर साधारण आलेख होने पर शोधसार-, बीजशब्द-, निष्कर्ष आदि तकनिकी पक्षों से छूट मिलेगी।
24. 'सन्दर्भ' बोल्ड करके लिखें और सूची बनाकर समस्त संदर्भ पुस्तक के लेखक का नाम, लेखक का उपनाम, पुस्तक का नाम, प्रकाशक का नाम, प्रकाशन वर्ष, पृष्ठ संख्या क्रम से लिखें।
25. आलेख के अंत में पांच पंक्ति का पता लिखना हैं जहां क्रम से अपना नाम, पद, संस्था, शहर, ईमेल-, मोबाइल नंबर बोल्ड अक्षरों में लिखना हैं।
26. पूरे आलेख का फॉण्ट एक ही तरह का 'Unicode-Kokila' हो और साइज़ भी एक जैसी ही '18' रखनी है।
27. पूरा आलेख 'जस्टिफाइड' हो न कि लेफ्ट या राईट अलाइनमेंट के साथ।
28. सन्दर्भ लिखने में हमारी नियमावली का पालन शत प्रतिशत करना ही है।

पत्रिका की वेबसाईट https://shikshasamwad.com/ देखिएगा जहां आवश्यक सभी प्रश्न और उनके यथासंभव उचित उत्तर देने का प्रयास किया गया है।

अनुक्रम

लेखकों हेतु दिशानिर्देश 3

संपादकीय/संवाद

- वीरेंद्र कुमार चंदोरिया 9

संवाद

- हिन्दुत्व का दर्शन: डॉ. भीमराव आंबेडकर 11

कहानी

- टोबा टेक सिंह : सआदत हसन मंटो 31

आलेख

- दलितों के विद्यालयी अनुभव और उनके शैक्षिक निहितार्थ : कमल 37
- मार्टिन हाइडेगर का शिक्षा दर्शन : अनामिका 53
- शिक्षा और समाज : विजय शिंदे 61

अनुभव

- बचपन, श्रम और शिक्षा : दिनेश कुमार 67

कविता

- हिंदी का हित करें : लाला राम बैरवा 'अनुराग' 73

इस पत्रिका में व्यक्त विचार लेखकों के हैं। संपादन मंडल और पत्रिका से जुड़े सदस्यों की इन विचारों से सहमति हो यह ज़रूरी नहीं है।

Shiksha Samwad © 2024 by Writers for Shiksha Samwad is licensed under CC BY-NC-ND 4.0

Shiksha Samwad © 2024 by Writers for Shiksha Samwad is licensed under Creative Commons Attribution-NonCommercial-NoDerivatives 4.0 International. To view a copy of this license, visit https://creativecommons.org/licenses/by-nc-nd/4.0/

संवाद

हमारी शालाओं के भीतर पढ़ाई के नाम पर आखिर होता क्या है? यदि इस विचार की गहनता से पड़ताल कि जाए तो लाज़मी तौर पर निष्कर्ष शैक्षिक से अधिक गैर-शैक्षिक ही निकलेंगे। यदि अन्य कारणों को अलग भी कर दिया जाए तो भी शालाओं में शैक्षिक गतिविधियों के नाम पर जो कुछ भी होता है उसमें कितनी रचनात्मकता है, वे कितनी सृजनात्मक हैं, शालाएँ गतिविधियां करने का कितना मौका देती हैं और शालाओं में संवाद की स्थिति क्या है, इस भी विचार किया जाना चाहिए। यदि हम अपनी शालाओं में संवाद की स्थिति पर नजर दौड़ाएँ तो स्थिति और भी अधिक जटिल दिखालाई देती है। हमारी शालाओं को एक नकली संवाद ने घेरे हुआ है जो न केवल नकली है बल्कि वह अमानवीय भी है। हमारी शालाएँ अव्वल तो संवाद के सहारे चलती नहीं हैं परंतु जो संवाद के सहारे चलने का दंभ भी भरती है, वे भी संवाद को केवल प्रश्न करना और उत्तर देना तक ही सीमित किए हुए हैं। दरअसल संवाद जिसकी हिमायत हम कर रहे हैं वह हमारी शालाओं में रूढ हो चुकी उन मान्यताओं को तोड़ने में सहायता देती हैं जो न केवल सीखने में बाधा बनती है वरन उन धारणाओं को भी बढ़ावा देती हैं, जो सामाजिक- सांस्कृतिक स्तर पर भेदभाव और कुटिल शैक्षिक वर्चस्व के फैलाव का कारण भी है। आखिर संवाद शालाओं के लिय कितना उपयोगी है और संवाद के जरिए रूढ हो चुकी धारणाओं को कैसे लचर किया जा सकता है। संवाद के जरिए कैसे समाज को, मानव को या नागरिक को मानवीय बनाया जा सकता है। इस मुद्दे पर काम करने से पूर्व संवाद की अवधारणा पर गहनता से विचार करने की आवश्यकता है। क्योकि मेरे अपने अनुभव शालाओं में संवाद के नाम पर होने वाले उन आडंबरों के साक्षी हैं जो बच्चों को संवाद के नाम पर केवल ठगने का काम करते हैं। अनुभव बताते हैं कि आज भी शालाओं में बच्चों को बातचीत करने से बाधित किया जाता है। आज भी शालाओं में शिक्षकों को यह कहते सुना जा सकता है....'बाते नहीं बच्चों... मुंह पर उंगली रखो'। आज भी शिक्षिकों से तर्क करने वाले बच्चों को 'बदतमीज' की उपाधि से शुशोभित कर दिया जाता है। शालाओं में रचनात्मकता को बढ़ावा देने वाले प्रश्नों के स्थान पर आज भी ऐसे प्रश्नों को पूछा जाता है जो केवल रटने को बढ़ावा देते हैं। इन विचारों के बनिस्पत संवाद के माध्यम से मुद्दों पर चर्चा करने, नैतिक सीख देने वाले विचारों पर आलोचनात्मक तर्क रखने, तथा सामाजिक-सांस्कृतिक रूढ़ियों आदि पर चर्चा करने से, एक ऐसे स्वस्थ विचार का निर्माण किया जा सकता है जो राष्ट्रीय विकास की अधिकल्पना का आलोचनात्मक विश्लेषण करने में सक्षम हो। संवाद हमे उन विचारों की जड़ों को कुरेदने का काम करता है जो जाति, वर्ग, धर्म, लिंग और यहाँ तक कि आर्थिक आधार पर बने हुए हैं। पश्चिम के एक दार्शनिक फ्रेरे ने इस प्रकार के संवाद का बेहतरीन विश्लेषण किया है। ज्ञान का वर्चस्व हो या फिर जाति का जिसके संबंध में आज भी यह धारणा बदली नहीं है कि खास वर्ग या जाति या वर्ण से उपजे लोग ही अधिक ज्ञानवान होते है। इस प्रकार की धारणाओं को केवल संवाद के जरिए ही धराशायी किया जा सकता है। दरअसल मैं यहाँ संवाद को केवल बातचीत तक समेट कर नहीं देख रहा हूँ बल्कि मैं तो ऐसे संवाद की कल्पना कर कर रहा हूँ , जो तर्क के आधार पर बुना जाए, जो साक्ष्यों की दरकार रखता हो, जो केवल बातों पर विश्वास न करें बल्कि उन्हे सत्यापित करने की शक्ति से भी लैस हो। तर्क, साक्ष्य तथा सत्यापन हमें अधिक आलोचनात्मक होने की शक्ति प्रदान करते है। हर बात पर जिज्ञासा और उसमें से निकले सवाल और सवालों के जवाब में फिर से जिज्ञासा का भाव ही हमे आलोचनात्मक बनाने का काम करता है। आलोचनात्मक होना कोई गलत बात नहीं है जैसा कि अक्सर हमारे बहुतेरे शिक्षकों की धारणा रहती है। आलोचनात्मक दृष्टि ही हमे औरो से अलग बनाती है, अधिक मानवीय बनाती है और मानवता के कर्म के अधिक निकट लाती है। ये आलोचनात्मक दृष्टि जो संवाद के जरिए बनाई गई है अपने तर्क, साक्ष्य और सामाजिक कड़ियों के सत्यापन के बाद यह तय करती है कि जाति, वर्ग,

धर्म, लिंग और वे सभी विचार जो सामाजिक रूढ़ियों का गढ़ बन गए हैं और कुछ नहीं बल्कि अमानवीय हैं। यह कैसे मालूम हो कि क्या मानवीय है और क्या अमानवीय है ? और इस बात पर कैसे विचार किया जाए कि मानवीय विचार भी कैसे, कब और क्यों अमानवीय भी बन जाता है। यह काम दरअसल तर्क करते हैं, तभी तो तर्कों के आधार पर जघन्य अपराध करने वालों को दी जाने वाली फांसी की सजा पर भी जिरह की जाती है। यह तर्क ही है जो चोरी के विचार को भी पाप की स्थान पर मजबूरी से जोड़कर कम महत्वपूर्ण बना देता है। वह भी तर्क ही था जो जाति के विचार के संबंध में तथाकथित महान विचारक मनु ने दिया था। इन विचारों, जो केवल तर्क के आधार पर सदियों से बने हुए हैं, उन्हे केवल तर्क और उन तर्कों से मजबूत तर्कों के आधार पर ही बदला जा सकता है। संवाद में तर्कों का स्थान ही संवाद को उन हल्के संवादों से अलग बनाता है जो तर्कों की अनुपस्थिति में बुने गए हैं। तर्क को कैसे जुटाया जाए, कैसे तर्कों के मजबूत किया जाए इसके लिए आवश्यकता होती है साक्ष्यों और उनके सत्यापन की। और उसमें भी महत्वपूर्ण भाषा की। हालांकि भाषा हमारा आज का मुद्दा नहीं फिर भी संवाद में भाषा की अधिक महत्वपूर्ण भूमिका होती है। यह सभी मिलकर एक आलोचनात्मक चित की सृष्टि करते हैं। एक स्वस्थ संवाद आलोचनात्मक विचार को जन्म देता है। यह विचार अपने आप बनता है, अपने आप स्वीकार किया जाता है, अपने आप अपनाया जाता है। शिक्षक का काम तो केवल उसके सामने तर्क, साक्ष्यों और सत्यापित विचारों को छात्र के समक्ष निष्पक्ष रूप से, बिना किसी चालाकी के रखना होता है। इस पूरी प्रक्रिया में जब सवाल-जवाब हो, तर्क का जाल बुना जा रहा हो, कुछ कहने का और कुछ सुनने का दौर चल रहा हो तो शाला में उस स्वतन्त्रता का बोध भी आवश्यक रूप से होना चाहिए जिसकी कल्पना हमारे संवैधानिक मूल्यों में की गई है। यदि ऐसा होता है तो मेरा विश्वास है कि हम अधिक विवेकशील मानव का निर्माण कर पाएंगे, जो जाति, वर्ग, धर्म, लिंग और उन सभी सामाजिक मान्यताओं जो रूढ हो चुकी हैं, से ऊपर होगा।

इसी कड़ी में संवाद के इस अंक में हमने प्रयास किया है कि हम अलग अलग विचारों को पाठकों के सामने रखें। हिन्दुत्व का दर्शन नाम से प्रकाशित आंबेडकर जी के विचार उसी शैक्षिक वर्चस्व को तोड़ने का प्रयास करता है जिसकी एक संक्षिप्त चर्चा ऊपर कि गई है। इसी कड़ी दलितों के अनुभव को दर्शाती विचारगी कमल की कलम से लिखी गई है। अनामिका का वैचारिक लेख दार्शनिक पृष्ठभूमि का है जो चिंतन पर हाइडेगर के विचारों का संक्षिप्त परिचय देता है। शिक्षा और समाज के स्वरुप पर बुना गया विचार विजय का है। दिनेश ने अपने अनुभवों को अभिव्यक्ति दी है। अंत में कवि अनुराग की एक सुदर कविता है जो अपनी भाषा के विचार के साथ लिखी गई है।

अब दो शब्द आपसे आप हमे इस पत्रिका को बेहतर बनाने के लिए, अपने विचारों को रखने और अपने अनुभवों को सांझा करने के लिए सहयोग कर सकते हैं। हम आपसे अनुरोध करते है कि आप हमे पत्रिका के इस अंक पर अपने विचारों से अवगत कराएं। इसके लिए आप हमे पत्र द्वारा, इ-मेल द्वारा या दूरभाष पर भी संपर्क कर सकते हैं। पत्रिका आपके सहयोग से चलती है इसलिए आप अपने मित्रों को, शिक्षकों को बच्चों को पत्रिका के बारे में बताएं , उनसे पत्रिका को पढ़ने को कहें और आप उन्हे पत्रिका उपहार स्वरूप भी दे सकते हैं। आप पत्रिका की सदस्यता अवश्य लें। अगले अंक की प्रतीक्षा के साथ धन्यवाद।

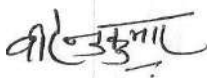

आपका

वीरेंद्र कुमार चंदोरिया

शिक्षा संवाद
2024, 11(1): 11-30
ISSN: 2348-5558
©2024, संपादक, शिक्षा संवाद, नई दिल्ली

संवाद

हिन्दुत्व का दर्शन

डॉ. भीमराव आंबेडकर

अंश-1

हिंदुत्व का दर्शन क्या है? यह एक ऐसा प्रश्न है, जो अपनी तार्किक विचार श्रृंखला में उत्पन्न होता है, परंतु उसकी तार्किक श्रृंखला के अलावा भी इसका इतना महत्वहै कि इसे बिना विचार किए छोड़ा नहीं जा सकता। इसके बिना हिंदुत्व के उद्देश्यों और आदर्शों को कोई भी समझ नहीं सकता।

इस संबंध में यह बिल्कुल साफ है कि इस तरह का अध्ययन करने से पहले विषय की पृष्ठभूमि को स्पष्ट करना और साथ ही उससे संबंधित शब्दावली को परिभाषित करना भी बहुतआवश्यक है।

आरंभ में ही सवाल पूछा जा सकता है कि इस प्रस्तावित शीर्षक का क्या अर्थ है? क्या 'हिंदू धर्म का दर्शन' और 'धर्म का दर्शन' शीर्षक एक समान है? मेरी इच्छा है किइसके पक्ष और विपक्ष पर अपने विचार प्रस्तुत करूँ, लेकिन वास्तव में मैं ऐसा नहीं कर सकता। इस विषय पर मैंने बहुत-कुछ पढ़ा है, लेकिन मैं स्वीकार करता हूँ किमुझे 'धर्म के दर्शन' का स्पष्ट अर्थ अभी तक नहीं मिल पाया है। इसके पीछे शायद दो कारण हो सकते हैं। पहला है कि धर्म एक सीमा तक निश्चित है लेकिन दर्शनशास्त्रमें किन-किन बातों का समावेश किया जाए, यह निश्चित नहीं (मुनरो के इनसाइक्लोपीडिया ऑफ एजुकेशन में 'फिलासफी' शीर्षक के अंतर्गत लेख देखें)। दूसरे, दर्शन और धर्मपरस्पर विरोधी न भी हों, उनमें प्रतिस्पर्धा तो अवश्य ही हैं, जैसा कि दार्शनिक और अध्यात्मवादी की कहानी से पता चलता है। उस कहानी के अनुसार, दोनों के बीच चलरहे वाद-विवाद के दौरान अध्यात्मवादी ने दार्शनिक पर यह दोषारोपण किया कि यह एक अंधे पुरुष की तरह है, जो अंधेरे कमरे में एक काली बिल्ली को खोज रहा है, जो वहाँहै ही नहीं। इसकी प्रतिक्रियास्वरूप दार्शनिक ने अध्यात्मवादी पर आरोप लगाया कि वह 'एक ऐसे अंधे व्यक्ति की तरह है, जो अंधेरे कमरे में एक काली बिल्ली को खोजरहा है, जबकि बिल्ली का वहाँ कोई अस्तित्व है ही नहीं, और वह उसे पा लेने की घोषणा करता है।' शायद 'धर्म का दर्शन' शीर्षक ही गलत है, जिसके कारण उसकी सहीव्याख्या करने में भ्रम पैदा होता है। प्रोफेसर प्रिंगले-पेटीसन (दि फिलासफी आफ रिलीजन आक्सफोर्ड, पृ. 1-2) ने धर्म के दर्शन का अर्थ समझाते हुए जो अपनाबुद्धिमत्तापूर्ण मत व्यक्त किया है, वह मुझे उसके निश्चित विषय के बहुत करीब लगता है। प्रोफेसर प्रिंगले के अनुसार -

"सामान्यतः हम जिसे धर्म का दर्शन कहते हैं, उसके संदर्भ में कुछ शब्द उपयोगी हो सकते हैं। बहुत पहले दार्शनिक प्लेटो (अफलातून) ने दर्शनशास्त्र को किसी विषयपर विहंगम दृष्टि डालना कहा था। इसे हम दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कह सकते हैं कि दर्शन संसार के सभी प्रमुख रूपों के संदर्भ में समग्र और संपूर्ण विश्व काअंश मात्र होते हुए इन मुख्य लक्षणों को उनके परस्पर संबंधो के अर्थ में समझने का एक प्रयास है। केवल इसी तरह हम संसार की प्रक्रिया, आधार और इसके स्वरूप केबारे में अपने अंतिम निष्कर्षों तक पहुँचने तथा समझने की क्षमता प्राप्त कर सकते हैं और किन्हीं विशेष कारणों के महत्व का सही अंदाजा लगा सकते हैं। तदनुसार, किसी भी विशेष अनुभव को, धर्म के दर्शन को, कला के दर्शन और विधि के दर्शन को, व्यक्ति जिन मनुष्यों तथा संसार के मध्य निवास करता है, उसके प्रति अपनेदृष्टिकोण, अनुभव के विश्लेषण तथा व्याख्या के अर्थ में ही लेना चाहिए, और जब कुछ घटनाएँ, जिन पर हम अपना ध्यान केंद्रित करते हैं, इतनी सार्वभौमिक और उल्लेखनीयहोती हैं कि वे धर्म के इतिहास से मनुष्य के धार्मिक अनुभव के दर्शन से भी प्रकट हों, तब ऐसी सभी घटनाएँ हमारे दार्शनिक निष्कर्षों पर निर्णायक प्रभाव डाले बिनानहीं रह सकतीं। वस्तुतः अनेक लेखकों द्वारा इस विषय पर व्यक्त किए गए विचार मात्र सामान्य विचार हैं।

जिन तत्वों के साथ धर्म के दर्शन का संबंध है, उनकी संपूर्ति इस विषय के अत्यंत बोधगम्य अर्थ में धर्म के इतिहास से होती है। जैसा कि प्रसिद्ध विद्वान टीले नेकहा है, "सभ्य तथा असभ्य संसार के सभी मृत और सजीव धर्म अपने सभी अभिव्यक्त रूपों में ऐतिहासिक तथा मनोवैज्ञानिक तत्व हैं।" इस बात पर ध्यान देना होगा कि येघटनाएँ धर्म के दर्शन का आधार तो बनती हैं, परंतु वे स्वयं दर्शन अथवा टीले के शब्दों में, 'धर्म का विज्ञान' नहीं बनती। टीले कहते हैं, "मैंने सभी विद्यमानधर्मों का बारीकी से वर्णन किया है। उन्होंने उनके सिद्धांतों, परंपराओं और दंतकथाओं के बारे में भी प्रकाश डाला है। जो तत्व संस्कारों की शिक्षा देते हैं, उनकाऔर धर्मों के साथ जुड़े हुए लोगों के संगठनों का भी वर्णन किया है। टीले महोद्य ने इस क्षेत्र में बहुत कार्य किया है। उन्होंने विभिन्न धर्मों का उनकी उत्पत्तिसे लेकर विकास तक और बाद में पतन तक का पता लगाया है। उन्होंने केवल उन्हीं बातों को संगृहीकत किया है, जिनके आधार पर धर्म का विज्ञान क्रियाशील रहता है। उनकाकहना है कि ऐतिहासिक जानकारी चाहे कितनी भी पूर्ण हों, पर्याप्त नहीं हैं, क्योंकि इतिहास दर्शन नहीं है। धर्म का दर्शन निश्चित करने के लिए धर्म के विभिन्नरूपों में जो समान तत्व हैं, जिसकी जड़ें हम मानव-स्वभाव में देख सकते है, उसे जानना आवश्यक है। ऐसे तत्व का विकास उसके संपूर्ण रूपों में और उसके विकास के नीचेसे ऊपर तक ही स्पष्ट अवस्थाओं द्वारा जाना जा सकता है। उसके साथ ही मानव-सभ्यता के मुख्य तत्वों से उनके जो गहरे संबंध हैं, उन्हें भी जाना जा सकता है।"

यदि इसे ही धर्म का दर्शन समझा जाए, तब जिसे तुलनात्मक धर्म कहा जाता है, उसके अध्ययन का ही एक अलग नाम है, जिसका एक और उद्देश्य यह है कि धर्म के विभिन्न रूपोंमें जो समान तत्व हैं, उसे जाना जाए। ऐसा मुझे लगता है। ऐसे अध्ययन का क्षेत्र और महत्व चाहे कुछ भी हो, किंतु 'धर्म का दर्शन' शीर्षक का प्रयोग प्रो. प्रिंगलेपेटीसन ने जिस अर्थ में किया है, मैं उसके बिलकुल विपरीत अर्थ में कर रहा हूँ। मैं 'दर्शन' शब्द का उसके मूल अर्थ में ही प्रयोग कर रहा हूँ, जिसके दो अर्थ हैं।इसका अर्थ है उपदेश, जैसा कि लोग सुकरात और प्लेटो के दर्शन के बारे में कहते हैं। दूसरे अर्थ में, इसका तात्पर्य है

कि किसी भी विषय तथा घटना पर निर्णय देतेसमय सूक्ष्म विवेक-बुद्धि का प्रयोग करना। इस आधार पर अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए मेरे धर्म का दर्शन, केवल वर्णनात्मक शास्त्र नहीं है। मैं उसे वर्णनात्मक औरनियमबद्ध शास्त्र दोनों मानता हूँ। जहाँ तक उसका धर्म के उपदेश के साथ संबंध है, धर्म का दर्शन केवल वर्णनात्मक शास्त्र बनता है, परंतु जब उसका संबंध उन उपदेशोंपर निर्णय लेने के लिए सूक्ष्म विवेक-बुद्धि का उपयोग करने से होता है, तब धर्म का दर्शन एक नियमबद्ध शास्त्र बनता है। इससे यह स्पष्ट हो जाएगा कि हिंदू धर्म केदर्शन के अध्ययन से मेरा संबंध किन बातों से है। स्पष्टतः मैं हिंदू धर्म का विश्लेषण जीवन शैली के रूप में उसमें छिपे महत्व को निर्धारित करने के रूप मेंकरूँगा।

यहाँ एक पहले तो स्पष्ट हो जाता है, लेकिन इसका एक पहले और है, जिसका स्पष्ट होना शेष है। इसका संबंध इसी के नजदीकी अंगों की जाँच करने से है, और जिन शब्दों काप्रयोग मैं करूँगा, वह उनकी परिभाषाओं से संबद्ध है।

मेरे विचार में धर्म के दर्शन के अध्ययन में तीन आयामों का होना आवश्यक है। मैं उन्हें आयाम कहता हूँ, क्योंकि वे उन अज्ञात अंशों के समान हैं, जिनका उत्पादन केअंगों में समावेश होता है। यदि हम धर्म के दर्शन के परीक्षण का कोई नतीजा निकालना चाहते हैं, तब हमें उन आयामों की जाँच करके उनकी व्याख्या निश्चित करनी होगी।

इन तीन आयामों में प्रथम है-धर्म। धर्म की परिभाषा से हम क्या समझते हैं, इसे निश्चित करना आवश्यक है, जिससे हम परस्पर-विरोधी तर्क-वितर्कों को टाल सकें, उनसेबच सकें। यह बात धर्म के संबंध में विशेष रूप से आवश्यक है, क्योंकि उसकी निश्चित व्याख्या के बारे में सहमति नहीं हैं। वैसे इस प्रश्न पर विस्तार से चर्चा करनेकी आवश्यकता भी नहीं। इसलिए इस शब्द का प्रयोग मैं जिस अर्थ में यहाँ कर रहा हूँ, उसे स्पष्ट करने से ही मेरा समाधान हो जाएगा।

धर्म शब्द का प्रयोग मैं ब्रह्मविज्ञान के रूप में करता हूँ। शायद व्याख्या की दृष्टि से इतना ही कहना पर्याप्त नहीं होगा, क्योंकि ब्रह्मविज्ञान भी अलग-अलग तरहका है और मुझे वह सब स्पष्ट करना चाहिए। प्राचीनकाल से ही ऐतिहासिक दृष्टि से जिनकी चर्चा की जाती रही है, ऐसे ब्रह्मविज्ञान दो तरह के हैं - पौराणिकब्रह्मविज्ञान और लौकिक ब्रह्मविज्ञान, लेकिन ग्रीक लोगों ने इन देवी-देवता और उनके कार्यकलाप की कहानियाँ, जिन्हें प्रचलित काल्पनिक साहित्य में दर्शाया गयाहै। दूसरे यानी लौकिक ब्रह्मविज्ञान में विभिन्न त्योहार तथा समारोह और उनसे संबंधित रीति-रिवाजों की जानकारी का समावेश होता है। मैं इन दोनों अर्थों के अनुरूपब्रह्मविज्ञान शब्द का प्रयोग नहीं कर रहा हूँ। मेरे अनुसार ब्रह्मविज्ञान का अर्थ है, नैसर्गिक ब्रह्मविज्ञान (नैसर्गिक ब्रह्मविज्ञान के एक विशिष्ट अध्ययनविभाग के रूप में उत्पत्ति प्लेटो द्वारा हुई। देखें-'लाज') जो ईश्वर और ईश्वरीय उपदेशों का सिद्धांत हैं।

वह नैसर्गिक प्रक्रिया का ही एक अविभाजित अंग है। पारंपारिक और रूढ़ अर्थ में नैसर्गिक ब्रह्मविज्ञान तीन सिद्धांतों का प्रतिपादन करता है - (1) ईश्वर काअस्तित्व है और वह विश्व का निर्माता है; (2) प्राकृतिक रूप में होने वाली सभी घटनाओं पर ईश्वर का नियंत्रण है, और (3) ईश्वर अपने सार्वभौमिक-नैतिक नियमोंद्वारा मानवजाति पर शासन करता है।

मैं इस बात से अवगत हूँ कि साक्षात्कारी दैवी सत्य का स्वेच्छा से प्रकटन नाम का ब्रह्मविज्ञान अलग है और इसे नैसर्गिक ब्रह्मविज्ञान से भिन्न किया जा सकता है, लेकिन यह भेद हमारे लिए महत्व नहीं रखता, क्योंकि जैसा बताया गया है (दि फेथ ऑफ एक मोरेलिस्ट, ए.ई. टाइलर, पृ. 19), साक्षात्कार की फलश्रुति बिना किसी परिवर्तनके नैसर्गिक ब्रह्मविज्ञान में होती है और मानवीय प्रयासों से जो ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता, उसे केवल उसके साथ जोड़ा जाता है अथवा नैसर्गिक ब्रह्मविज्ञानमें ऐसा परिवर्तन होता है कि उसका संपूर्ण सत्य स्वरूप जब उसके सही साक्षात्कार को ध्यान में रखते हुए देखा जाता है, तब वह अधिक स्पष्ट और अधिक समृद्ध बन जाताहै, लेकिन ऐसा भी एक मत है कि मूल नैसर्गिक ब्रह्मविज्ञान और मूल साक्षात्कारी ब्रह्मविज्ञान, दोनों में परस्पर विसंगति है। यहाँ उसकी चर्चा टालना उचित होगा, क्योंकि ऐसी चर्चा संभव नहीं है।

ब्रह्मविज्ञान के तीन सिद्धांत हैं - (1) ईश्वर का अस्तित्व, (2) ईश्वर का विश्व पर दैवी शासन और (3) ईश्वर का मनुष्य जाति पर नैतिक शासन। इन सभी को ध्यान मेंरखते हुए मेरी मान्यता है कि धर्म का अर्थ दैवी शासन की आदर्श योजना का प्रतिपादन करना है, जिसका उद्देश्य एक ऐसी सामजिक व्यवस्था बनाना है, जिसमें मनुष्य नैतिकजीवन व्यतीत कर सके। धर्म से मैं यही भाव ग्रहण करता हूँ और इस परिचर्चा में मैं 'धर्म' शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग करूँगा।

दूसरा आयाम है, धर्म जिस आदर्श योजना का समर्थन करता है, उसे जानना। किसी भी समाज के धर्म में स्थापित, स्थायीऔर प्रभावशाली अंग क्या हैं, उन्हें निश्चित करनाऔर उनके आवश्यक गुणों को अनावश्यक गुणों से अलग करना। यह कभी-कभी बहुत कठिन है। संभवतः इस कठिनाई का कारण उस कठिनाई में छिपा हुआ है, जिसके बारे में प्रो.राबर्टसन स्मिथ कहते हैं -

"धर्म की परंपरागत प्रथाओं में अनेक शताब्दियों में धीरे-धीरे वृद्धि हुई है और उसका मनुष्य की वैचारिक प्रकृति तथा उसके बौद्धिक और नैतिक विकास की प्रक्रियाके विभिन्न पहलुओं पर प्रभाव पड़ा है। ऐसा प्रतीत होता है कि आदिमानव से लेकर आज तक सभ्यता की प्रत्येक अवस्था में मूर्ति-पूजा वंश परंपरा से उनके सभी मिश्रितसंस्कारों और समारोहों के साथ चली आ रही है, लेकिन इस आधार पर ईश्वर के किसी भी रूप की कल्पना करना संभव नहीं मानव जाति के धार्मिक विचारों का इतिहास, जिसेधार्मिक संस्थाओं ने साकार किया है, पृथ्वी के भौगोलिक इतिहास के समान ही है, जिसमें नवीन और प्राचीन को साथ-साथ अथवा एक तह पर दूसरी तह के समान रखा गया है।"

भारत में ठीक ऐसा ही हुआ है। इस देश में धर्म का जो प्रचार-प्रसार हुआ है, इस संदर्भ में प्रो. मैक्समूलर ने कहा है -

"हमने धर्म को चरणबद्ध छोटे-छोटे बच्चों की सरल प्रार्थनाओं से लेकर बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों की गहन तपस्या तक फलते-फूलते देखा है। वेदों की अधिकांश ऋचाओं में हमेंधर्म की बाल्यावस्था का पता चलता है, तो ब्राह्मण ग्रंथों में उनके यज्ञादि, पारिवारिक तथा नैतिक आदर्शों में व्यस्त यौवन परिलक्षित होता है। उपनिषद में वैदिकधर्म का वृद्धत्व नजर आता है। भारतीय ज्ञान की ऐतिहासिक प्रगति में जब वे ब्राह्मण शास्त्रों की परिवक्वता तक पहुँचे, तभी पूर्णतः बाल सुलभ प्रार्थनाओं का

त्यागकरना आवश्यक था। भारतीय मेधा की ऐतिहासिक प्रगति के साथ-साथ यज्ञ के खोखलेपन और पुरातन देवताओं की सही पहचान हो गई। तब उनको उपनिषदों के अधिक परिपूर्ण देवताओंसे बदलना भी आवश्यक था, परंतु ऐसा नहीं हो सका। भरत में प्रत्येक धार्मिक विचार, जिसे एक बार व्यक्त किया गया, उसे कायम रखा गया और एक पवित्र वसीयत मानकर सौंपागया है और साथ ही भारतीय राष्ट्र की बाल्यावस्था, यौवन तथा वृद्धावस्था, इन तीनों अवस्थाओं के विचारों को प्रत्येक व्यक्ति की तीनों अवस्थाओं का स्थायीभाव बनादिया गया है। एक ही आचार-संहिता, वेद, जिसमें केवल न केवल धार्मिक विचारों के विभिन्न पहलुओं का समावेश है, बल्कि ऐसे सिद्धांत भी हैं, जिन्हें परस्पर विरोधीकहा जा सकता है।"

परंतु जो धर्म परिपूर्ण धर्म हैं, उनके संबंध में ऐसी कठिनाई अधिक परिलक्षित नहीं होती। परिपूर्ण धर्मों की मौलिक विशेषता यह है कि उनकी आदिकालीन धर्मों की तरहकिसी अनजान ताकतों की गतिविधि के अंतर्गत वृद्धि नहीं होती, जो युगों-युगों से मौन रूप से कार्यरत है, यद्यपि उनकी मूल उत्पत्ति उन महान धर्म गुरुओं के उपदेशोंसे होती है, जो एक दैवी साक्षात्कार के रूप मे बोलते हैं। जाग्रत प्रयासों से उत्पन्न होने के कारण परिपूर्ण धर्म का दर्शन जानना और उसका वर्णन करना सरल है।हिंदू धर्म यहूदी, ईसाई तथा इस्लाम धर्मों के समान ही मुख्य रूप से एक परिपूर्ण धर्म है। उसके दैवी शासन को तलाश करने की आवश्यकता नहीं है। दैवी शासन कीहिंदुत्व की योजना को एक लिखित संविधान में स्थापित किया गया है। यदि कोई भी उसे जानना चाहे तो वह उस पवित्र पुस्तक को देख सकता है, जिसे मनुस्मृति के नाम सेजाना जाता है। यह एक दैवी आचार-संहिता है, जिसमें हिंदुओं के धार्मिक, शास्त्रोक्त तथा सामाजिक जीवन को नियंत्रित करने वाले नियमों का सूक्ष्म विवरण है, जिसेहिंदुओं की बाइबिल माना जाना चाहिए और जिसमें हिंदू धर्म के दर्शन का समावेश है।

धर्म के दर्शन का तीसरा आयाम है, एक ऐसी कसौटी (धर्म-दर्शन के कुछ विद्यार्थी प्रथम दो परिमाणों के अध्ययन को उसी प्रकार संबद्ध करते है, जिस प्रकार धर्म दर्शनके क्षेत्र में आवश्यक होता है। वे ऐसा महसूस करते प्रतीत नहीं होते कि तीसरा परिणाम धर्म दर्शन के अध्ययन का आवश्यक भाग हे। उदाहरणार्थ, हेस्टिंग्जइनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, खंड 12, पृ. 393 पर एडम्स के 'अध्यात्मवाद' शीर्षक के अंतर्गत लेख को देखें। मैं इस विचार से सहमत नहीं हूँ। मतभेद इसलिएहै, क्योंकि मैं धर्म-दर्शन को एक सामान्य अध्ययन तथा एक व्याख्यात्मक अध्ययन मानता हूँ। मैं नहीं समझता कि यहाँ सामान्य हिंदुत्व का दर्शन जैसी कोई वस्तु होसकती है। मेरा विश्वास है कि प्रत्येक धर्म का अपना विशेष दर्शन होता है। मेरे लिए धर्म का कोई दर्शन नहीं है। यहाँ एक धर्म का एक दर्शन है।) निश्चित करना, जोधर्म का समर्थन प्राप्त दैवी शासन की योजना मूल्यांकन करने के लिए उपयुक्त हो। धर्म को उस जाँच की कसौटी पर खरा उतरना चाहिए। उसका मूल्यांकन किस कसौटी से होगा? इससे हम नियमों की परिभाषा निश्चित कर सकते हैं। इन तीनों आयामों में इस तीसरे आयाम की जाँच करना और उसे निश्चित करना बहुत ही कठिन है।

हालाँकि धर्म के दर्शन पर बहुत कुछ लिखा गया, लेकिन दुर्भाग्य से इस प्रश्न पर अधिक चिंतन नहीं किया गया और निश्चित रूप से इस समस्या के समाधान के लिए कोई उपायनहीं ढूँढ़ा गया। इस प्रश्न के समाधान के लिए प्रत्येक व्यक्ति को अपना रास्ता स्वयं तलाश करने को कहा गया है।

जहाँ तक मेरा संबंध है, मेरे विचार से इस मत का अनुसरण करके आगे बढ़ना उचित होगा कि यदि किसी भी आंदोलन अथवा संस्था का दर्शन जानना है, तब उस संस्था और आंदोलन केअंतर्गत जो क्रांतियाँ आई हैं, उनका आवश्यक रूप से अध्ययन किया जाए। क्रांति दर्शन की जननी है, चाहे उसे दर्शन की जननी न भी माना जाए, फिर भी वह ऐसा दीप है, जोदर्शन को प्रकाशयुक्त बनाता है। धर्म भी इस नियम का अपवाद नहीं हो सकता। इसलिए मेरी दृष्टि से सबसे अच्छा तरीका यही है कि यदि हम किसी धर्म के दर्शन कामूल्यांकन करना चाहते हैं और इसके लिए कोई कसौटी निश्चित करना चाहते हैं, तब उस धर्म में जो क्रांतियाँ आई हैं, उनका अध्ययन करें। यही एक तरीका है, जिसे मैंअपनाना चाहता हूँ।

इतिहास के विद्यार्थी एक धार्मिक क्रांति से परिचित हैं। यह क्रांति धर्म के कार्यक्षेत्र और उसके अधिकार की सीमा से संबंधित है। एक समय ऐसा भी था, जब धर्म नेमानवीय ज्ञान के संपूर्ण क्षेत्र को ढक लिया था और जो भी शिक्षा उसने प्रदान की, वह अमोघ मानी गई। इसमें खगोल शास्त्र का भी समावेश था, जिसने ब्रह्मांड मेंसिद्धांत की शिक्षा दी, जिसके अनुसार पृथ्वी विश्व के मध्य में स्थिर थी, जबकि सूर्य, चंद्रमा, ग्रह और अन्य सभी तारे आकाश में अपने निश्चित क्षेत्र में पृथ्वीकी परिक्रमा करते थे। इसमें जीव शास्त्र और भूगर्भ शास्त्र का भी समावेश था। साथ ही इस मत का प्रतिपादन किया था कि पृथ्वी पर जो जीव सृष्टि है, वह एक ही साथउत्पन्न हुई और उसकी रचना के समय से ही उसमें सभी प्राणिमात्र और स्वर्ग के देवताओं का समावेश है। उसने वैद्यक शास्त्र को भी अपना कार्यक्षेत्र बना लिया था, जिसमें यह शिक्षा दी गई कि रोग या बीमारी एक दैवी प्रकोप अथवा पाप के लिए दंड है अथवा वह शैतानों का कार्य है ओर उसे संतों द्वारा अपने पवित्र संस्कार से अथवाप्रार्थनाओं से अथवा धार्मिक यात्राओं से अथवा भूत-प्रेत हटाने से अथवा ऐसे उपायों से जो भूतों को त्रस्त करें, दूर किया जा सकता है। उसने शरीर शास्त्र तथा मानवशास्त्र को भी अपना कार्यक्षेत्र बना लिया था और उसके अंतर्गत यह सिखाया कि शरीर तथा आत्मा, दो अलग-अलग तत्व हैं।

धीरे-धीरे धर्म का यह विशाल साम्राज्य नष्ट हो गया। कोपरनिकस की क्रांति ने खगोल विद्या को धर्म के प्रभुत्व से मुक्त किया। डार्विन की क्रांति ने जीव शास्त्रतथा भूगर्भ शास्त्र को धर्म के जाल से बाहर निकाला। वैद्यक शास्त्र के क्षेत्र में ब्रह्मविज्ञान का अधिकार अभी पूर्ण रूप से नष्ट नहीं हुआ है। वैद्यकीयसमस्याओं में उसका हस्तक्षेप आज भी जारी है। परिवार नियोजन, गर्भपात तथा जीव में शारीरिक दोष के कारण ही ऐसे लोगों का बंध्याकरण करना, आदि विषयों पर ईश्वरपरकमान्यताओं का प्रभाव आज भी है। मनोविज्ञान अब तक धर्म की जकड़ से स्वयं को पूर्ण रूप से मुक्त नहीं कर सका, परंतु फिर भी डार्विन के सिद्धांत ने ब्रह्मविज्ञान कोइतनी गहरी चोट पहुँचाई और उसके अधिकार को यहाँ तक नष्ट किया कि उसके बाद ब्रह्मविज्ञान ने अपना खोया हुआ साम्राज्य पुनः प्राप्त करने के लिए कभी भी गंभीर प्रयासनहीं किए।

इस तरह धर्म के साम्राज्य के विनाश को एक महान क्रांति माना जाना पूर्णतः स्वाभाविक है। विज्ञान ने पिछले चार सौ वर्षों में धर्म के साथ जो संघर्ष किया, उसी कायह परिणाम है। इसके लिए दोनों में अनेक गंभीर संघर्ष हुए, जिसके परिणामों से जो क्रांति हुई, उसकी ज्योति से प्रभावित होने से कोई भी नहीं बच सका।

इस बात में कोई संदेह नहीं कि यह धार्मिक क्रांति एक महान वरदान साबित हुई। उसने विचारों की आजादी को स्थापित किया। उसने समाज को इस योग्य बनाया कि वह अपनानियंत्रण स्वयं कर सके, अपना संसार बना सके, जो समाज कभी अंधविश्वासों से घिरा हुआ था, अपनी रहस्यात्मक सत्ता से बाहर निकलकर अपने लिए एक ऐसा स्थान बनाए, जहाँस्वतंत्र विचारों का अपना महत्व हो। सभ्यता के निर्माण के लिए लौकिकता की इस प्रक्रिया का, जो संस्कृति से भिन्न है, केवल वैज्ञानिकों ने ही स्वागत नहीं किया, बल्कि सामान्य धार्मिक लोग भी यह सोचने लगे कि ब्रह्मविज्ञान के नाम पर जो कुछ भी सिखाया जाता रहा, उसमें बहुत-सी बातें अनावश्यक ही हैं।

परंतु धर्म के दर्शन का मूल्यांकन करने के लिए नियमों को निश्चित करने के उद्देश्य से हमें भिन्न प्रकार की एक दूसरी ही क्रांति को जानना होगा, जो धर्म में हुईहै। यह क्रांति मनुष्य के साथ ईश्वर के समाज और अन्य मनुष्यों के संबंधों का स्वरूप तथा उसके मान्यता प्राप्त सिद्धांतों से संबंधित है। यह क्रांति कितनी महानथी, यह बात हम सभ्य और आदिम समाज को विभाजित करने वाले भेदों से देख सकते हैं। यह बात भी आश्चर्यजनक महसूस होती है कि आज तक इस धार्मिक क्रांति का सुनियोजितअध्ययन नहीं किया गया। यद्यपि यह क्रांति इतनी महान तथा विशाल थी कि इसने असभ्य समाज के धर्म के स्वरूप में आमूल परिवर्तन कर दिया, परंतु इस क्रांति के बारे मेंलोगों को बहुत कम ज्ञान है।

हम असभ्य समाज और सभ्य समाज की तुलना आरंभ करते हैं।

आदिम समाज के धर्म में दो बातें हमारा ध्यान आकर्षित करती हैं। पहली बात है, संस्कार और समारोहों का आयोजन, जादू-टोने की प्रथा और संबंध सूचक प्रतीकों अथवाचिह्नों की पूजा, ध्यान में रखने योग्य एक अन्य बात यह है कि संस्कार, समारोह, जादू-टोना, निर्जीव चिह्न वस्तु, इन सभी का कुछ प्रसंगों के साथ विशेष संबंध है।यह ऐसे प्रसंग हैं, जो मुख्य रूप से मानव जीवन की संकटकालीन स्थिति को दर्शाते हैं। जन्म, पहली संतान का जन्म, पुरुषत्व प्राप्ति, स्त्री का बालिग होना, विवाह, बीमारी, मृत्यु और युद्ध जैसी घटनाएँ, सामान्य रूप से ऐसे प्रसंग होते हैं, जिस समय संस्कार समारोह आयोजित किए जाते हैं, जादू-टोना किया जाता है और प्रतीकों कीपूजा की जाती है।

धर्म की उत्पत्ति तथा उसके इतिहास का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों ने धर्म की उत्पत्ति का मूल हमेशा जादू-टोना, प्रतिबंध और प्रतीक तथा उससे संबंधित संस्कारऔर समारोह के संदर्भ में स्पष्ट करने के प्रयास किए हैं और उनका जिन प्रसंगों के साथ संबंध है, उसे महत्त्वपूर्ण नहीं माना। परिणामस्वरूप हमारे सामने कुछ ऐसेसिद्धांत प्रकट हुए, जो यह बताते हैं कि धर्म की उत्पत्ति जादू-टोना और प्रतीकों की पूजा से हुई है। इससे बड़ी दूसरी गलती कोई और हो नहीं सकती। यह सच है

किआदिमानवों का समाज जादू-टोना करता था, प्रतिबंधों पर विश्वास रखता था और प्रतीकों की पूजा करता था, परंतु यह मानना गलत है कि इससे धर्म बनता है अथवा यही धर्म कीउत्पत्ति के मूल स्रोत हैं। ऐसा दृष्टिकोण अपनाना, एक प्रकार से, जो बात आकस्मिक है, उसको ही स्थायीतत्व मानने के बराबर है। आदिम समाज के धर्म की मुख्य बात हैमानवीय अस्तित्व की मूल वास्तविकता, जैसे कि जीवन, मृत्यु, जन्म, विवाह आदि। जादू, टोना-टोटके ऐसी चीजें हैं, जो आकस्मिक हैं। जादू-टोना, प्रतिबंध, प्रतीक यह सबकुछ साध्य नहीं हैं, केवल साधन हैं। इनका उद्देश्य जीवन की रक्षा है। एक बात यह देखने में आई है कि असभ्य समाज में जादू-टोना, प्रतिबंध आदि का अंगीकार अपनेस्वयं के लिए नहीं, बल्कि जीवन की रक्षा के लिए और बुरी बातों से खतरों के बचाव के लिए किया गया। इस प्रकार से हमें यह समझना होगा कि आदिम मानव का धर्म, जीवनउसकी सुरक्षा से संबंधित था और जीवन की इस प्रक्रिया से ही असभ्य समाज के धर्म की उत्पत्ति हुई है और इसमें ही उसका सार है। आदिम समाज को जीवन और प्रवास की इतनीअधिक चिंता थी कि उसी को ही उसने अपने धर्म का आधार बनाया। जीवन की प्रक्रियाएँ उनके धर्म की इतनी अधिक केंद्र बिंदु बन गई थीं कि उस पर जिन-जिन बातों का प्रभावहोता है, उन सभी को उन्होंने अपने धर्म का अंग बना दिया। आदिम समाज के धार्मिक समारोह केवल जन्म, पुरुषत्व, यौवन, विवाह, रोग, मृत्यु और युद्ध तक ही सीमित नहींथे।

उनका संबंध भोजन या खाद्यान्न से भी था। पशुपालक पशुओं को पवित्र मानते थे। कृषक भूमि की बुआई और फसल की कटाई धार्मिक समारोहों के साथ करते थे। इसी प्रकार अकाल, महामारी तथा अन्य प्राकृतिक अनहोनी घटनाओं के समय भी धार्मिक समारोह किए जाते थे। अनाज काटना और अकाल जैसे प्रसंगों पर समारोह क्यों मनाए जाते हैं, आदिम समाज केलिए जादू-टोना, प्रतिबंध मानना, प्रतीकों की पूजा करना, यह सब कुछ इतना महत्त्वपूर्ण क्यों है? इसका एक ही उत्तर है कि इन सभी का जीवन की रक्षा पर प्रभाव होताहै। इसलिए जीवन की प्रक्रिया और उसकी रक्षा, यही बात मुख्य उद्देश्य बन जाता है। आदिम समाज के धर्म में जीवन और उसकी रक्षा, यही बात मुख्य केंद्र बिंदु है। जैसाप्रो. क्राउले ने बताया है, आदिम समाज के धर्म का प्रारंभ और अंत, जीवन और उसके संरक्षण से होता है।

जीवन और उसकी रक्षा में ही आदिम समाज के धर्म का समावेश है। आदिम समाज के धर्म की यह जैसी सच्चाई है, वह सभी धर्मों पर लागू होती है, चाहे उसका अस्तित्व कहीं भीहों। सभी धर्मों का सार सच्चाई में हैं, यह सच है कि वर्तमान समाज में आध्यात्मिक सुधारों के कारण हम लोग धर्म के इस सार तत्व को नजरअंदाज कर देते हैं, औरकभी-कभी भूल भी जाते हैं तथापि जीवन और उसकी रक्षा ही धर्म का सार है, यह बात संदेह से बिल्कुल परे है। प्रो.क्राउले ने यह बात बहुत ही उत्तम ढंग से स्पष्ट की।वर्तमान समाज में मनुष्य के धार्मिक जीवन के बारे में वह कहते हैं कि किस प्रकार -

"मनुष्य का धर्म, उसके सामाजिक अथवा व्यावसायिक कार्य में, उसके वैज्ञानिक अथवा कलात्मक जीवन में बाधक नहीं होता। वास्तव में उसके धर्म की आवश्यकताएँ उस एकविशेष दिन पूरी की जाती हैं, जब वह सामान्य रूप से सभी भौतिक संबंधों से मुक्त होता है। वास्तव में उसका जीवन दो हिस्सों में बंटा हुआ है, परंतु उसका जो आधाहिस्सा धर्म के साथ जुड़ा है, वह प्राथमिक है। उसका 'सैबथ' का दिन (चर्च में विश्राम-दिवस) जीवन और मृत्यु जैसे गंभीर प्रयत्न पर विचार करने में बीतता

है। साथ हीप्रार्थना करने की आदत, भोजन करते समय ईश्वर को धन्यवाद देना और मृत्यु, जीवन और विवाह आदि सर्वथा धर्मानुष्ठान की क्रियाएँ हैं, यह सब-कुछ अभिन्न रूप से उसकेसाथ जुड़ा हुआ है। संभवतः व्यवसाय अथवा विषयसुखों को अत्सर्गित किया जाना चाहिए, परंतु उसमें भी परिवर्तित धार्मिक भावना का आदेश होता है।"

वर्तमान समाज के मनुष्य की धार्मिक भावनाओं की आदिम समाज के उपरोक्त वर्धन के साथ तुलना की जाए, तब इस बात से कौन इंकार कर सकता है कि सैद्धांतिक और आचरण, दोनोंदृष्टियों से धर्म का मौलिक स्वरूप एक ही है, चाहे कोई आदिम समाज के धर्म की बात करता है अथवा सभ्य समाज की। इसलिए यह बात स्पष्ट है कि आदिम समाज और सभ्य समाज, दोनों एक बात पर सहमत हैं। दोनों में धर्म के हित केंद्र बिंदु, यानी जीवन की वह प्रक्रिया, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति की रक्षा होती है और उसके वंश का संचालनहोता है, एक ही बात है। इस बात में दोनों मे ही कोई वास्तविक अंतर नहीं है, परंतु अन्य दो महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर उनमें भेद हैं।

प्रथम, आदिम समाज के धर्म में ईश्वर की कल्पना का कोई भी अंश नहीं है। दूसरे, आदिम समाज के धर्म में नैतिकता और धर्म, इन दोनों में कुछ भी संबंध नहीं हैं।आदिम-समाज में ईश्वर के बिना धर्म है। आदिम समाज में नैतिकता है, परंतु वह धर्म से स्वतंत्र है।

धर्म में ईश्वर की कल्पना का उदय कब और कैसे हुआ, यह कहना संभव नहीं है। यह तो हो सकता है कि ईश्वर की कल्पना का मूल समाज के महान व्यक्ति की पूजा में हो, जिससेमनुष्य की जीवित ईश्वर में श्रद्धा का, यानी किसी सर्वश्रेष्ठ को देखकर ईश्वर मानने के आस्तिकवाद का उदय हुआ होगा। यह हो सकता है कि ईश्वर की कल्पना, यह जीवनकिसने बनाया है, जैसे दार्शनिक विचार के फलस्वरूप अस्तित्व में आई होगी, जिससे एक सृष्टि के निर्माणकर्ता के रूप में, उसे बिना देखे मानने से ईश्वरवाद का उदयहुआ होगा। चाहे कुछ भी हो, ईश्वर की कल्पना धर्म का एक अभिन्न भाग नहीं हैं। उसका संबंध धर्म के साथ कैसे जुड़ गया, यह बताना मुश्किल है। जहाँ तक धर्म और नैतिकताका संबंध है, यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है। यद्यपि धर्म और ईश्वर का सर्वथा अभिन्न संबंध नहीं हैं, परंतु धर्म और नैतिकता, दोनों का अभिन्न संबंध है।जीवन, मृत्यु, जन्म और विवाह, इन मानव-जीवन की मौलिक वास्तविकताओं से धर्म और नैतिकता दोनों का संबंध है। जीवन की उन मौलिक वास्तविकताओं तथा उनकीक्रियाओं-प्रक्रियाओं को उत्सर्गित करने के साथ-साथ उसने उनकी रक्षा के लिए समाज द्वारा बनाए गए नियमों को भी उत्सर्गित किया है। इस प्रश्न को इस दृष्टिकोण सेदेखने के बाद इस बात की व्याख्या आसान हो जाती है कि धर्म और नैतिकता का संबंध कैसे स्थापित हुआ। यह संबंध धर्म और ईश्वर के बीच स्थापित संबंध से भी अधिकस्वाभाविक और दृढ़ है, परंतु फिर भी धर्म और नैतिकता, इन दोनों का मिलन नियमित रूप से कब हुआ, यह बताना कठिन है।

चाहे कुछ भी हो, यह वस्तु स्थिति है कि सभ्य समाज का धर्म और आदिम समाज का धर्म दो महत्त्वपूर्ण कारणों से भिन्न-भिन्न हैं। सभ्य समाज में ईश्वर का धर्म कीयोजना में समावेश है। सभ्य समाज में नैतिकता को धर्म के कारण पवित्रता प्राप्त होती है।

मैं जिस धार्मिक क्रांति की बात कर रहा हूँ, उसकी यह प्रथम अवस्था है। धार्मिक क्रांति की प्रक्रिया धर्म के विकास में इन दो तत्वों के उभरने के साथ ही समाप्तहो गई, ऐसा मानना उचित नहीं हैं। यह दोनों विचारधाराएँ सभ्य समाज के धर्म का एक हिस्सा बन जाने के बाद और अधिक परिवर्तित हुईं, जिसके कारण उनके अर्थों में तथाउनके नैतिक महत्व में क्रांति हो गई।

धार्मिक क्रांति की दूसरी स्थिति बहुत मौलिम परिवर्तन हो गए। यह भेद इतना विशाल है कि उसके कारण सभ्य समाज, प्राचीन समाज और आधुनिक समाज में विभाजित हो गया औरजब हम सभ्य समाज के धर्म की बात करते हैं, तब प्राचीन समाज और आधुनिक समाज के धर्म की चर्चा करना आवश्यक बन जाता है।

प्राचीन समाज को आधुनिक समाज से अलग करने वाली धार्मिक क्रांति, सभ्य समाज को आदिम समाज से अलग करने वाली धार्मिक क्रांति से बहुत ही विशाल है। उसकी व्यापकता, ईश्वर, समाज और मनुष्य के बीच संबंधों के बारे में इसके द्वारा जो धारणाएँ बनीं, उनके भेदों से स्पष्ट होती हैं।

इस भेद का पहला मुद्दा समाज की रचना से संबंधित है।

प्रत्येक मनुष्य अपनी पसंद से नहीं बल्कि अपने जन्म तथा पालन-पोषण के कारण किसी समाज का, जिसे नैसर्गिक समाज कहा जाता है, सदस्य बनता है। वह किसी विशिष्ट परिवारसे तथा किसी विशिष्ट राष्ट्र से संबंधित होता है। इस सदस्यता के कारण उस पर कुछ निश्चित सामाजिक उत्तरदायित्व तथा कर्तव्य भी लादे जाते हैं। उनकी पूर्ति करनाउसके लिए अनिवार्य होता है और उनके उल्लंघन से उसे सामाजिक दृष्टि से अयोग्य मानकर दंड दिया जाता है, जबकि उसी के साथ उसे कुछ अधिकार तथा सुविधाएँ भी प्रदान कीजाती हैं। इस संदर्भ में प्राचीन तथा आधुनिक, दोनों समाज समान हैं, परंतु जैसा कि प्रो.स्मिथ ने कहा है (दि रिलीजन आफ सैमाइट्स) -

"यहाँ एक महत्त्वपूर्ण भेद है कि संसार की आधुनिक व्याख्या के संदर्भ में प्राचीन संसार का आदिवासी समाज अथवा राष्ट्रीय समाज वस्तुतः एक नैसर्गिक समाज नहीं था, क्योंकि मनुष्यों के समान देवताओं की भूमिका और अस्तित्व था। जिस समुदाय में मनुष्य का जन्म होता था, वह केवल उसके सगे-संबंधियों तथा अन्य सहयोगी नागरिकों कासमुदाय ही नहीं होता था, बल्कि उसे कुछ दिव्य विभूतियों, जैसे कि परिवार तथा राज्य के देवताओं को भी अंगीकार करना पड़ता था। प्राचीन मत के अनुसार यह सब कुछ किसीविशेष समुदाय का एक अभिन्न भाग होता था, जैसा कि कोई मानव सदस्य किसी सामाजिक समुदाय का एक भाग होता है। प्राचीन काल के देवताओं और उनके उपासकों का आपसी संबंधमानवी संबंधों की भाषा से व्यक्त किया जाता था, जिसका काव्यात्मक नहीं, बल्कि शाब्दिक अर्थ होता था। यदि किसी देवता को पिता और उसके उपासकों को उसकी संतानकहाजाए, तब उसका शब्दशः अर्थ यही होता था कि ये उपासक उसकी उत्पत्ति हैं और उस देवता तथा उसके उपासकों का एक नैसर्गिक परिवार बन जाता, जिसमें उसके एक-दूसरे केप्रति परस्पर पारिवारिक कर्तव्य हैं अथवा यदि किसी देवता को राजा के रूप में और उसके उपासकों को उसके सेवकों के रूप में संबोधित किया जाए, तब उसका अर्थ यही होताथा कि शासन चलाने के सर्वोच्च अधिकार उस देवता

के हाथों में ही है और उसके अनुसार शासन पद्धति में सभी महत्त्वपूर्ण मामलों पर उसकी राय जानने, उसके आदेश प्राप्तकरने और इसके साथ ही उसके प्रति राजा के समान आदर-सम्मान व्यक्त करने का प्रबंध होता था।

"इस प्रकार से किसी भी मनुष्य का किन्हीं विशेष देवताओं के साथ जन्म से ही उसी प्रकार का संबंध होता था, जिस प्रकार का उसका अन्य सहयोगी मनुष्यों के साथ होताहै और उसके इन देवताओं के साथ संबंधों के आधार पर उसका धर्म निश्चित होता था जो उसके आचरण का एक भाग है। यह आचरण उस सर्वसाधारण आचार-संहिता का एक भाग माना जाताथा, जो उस समाज के सदस्य के रूप में उस पर लागू होती थी। धर्म का क्षेत्र और सामान्य जीवन, दोनों के साथ संबंध होता था, क्योंकि सामाजिक रचना केवल मनुष्य से हीनहीं, बल्कि मनुष्य और देवता दोनों से मिलकर की गई थी।"

"इस प्रकार से प्राचीन समाज में मनुष्य तथा उसके देवता, दोनों को मिलाकर समाज की सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक संरचना की जाती थी। धर्म की स्थापना देवता औरउसके उपासकों की घनिष्ठता के आधार पर की जाती थी। आधुनिक समाज ने देवताओं को अपने सामाजिक संरचना से अलग कर दिया है। अब उसमें केवल मनुष्यों का समावेश है।

प्राचीन समाज और आधुनिक समाज में जो दूसरा भेद है, उसका संबंध समाज तथा देवता के बीच रिश्तों से है। प्राचीन संसार में विभिन्न जातियाँ -

> "अनेक देवताओं के अस्तित्व में विश्वास रखती थीं, क्योंकि वे अपने स्वयं के तथा अपने शत्रुओं के देवताओं को भी स्वीकार किया करती थीं, परंतु जिनसे इन्हें किसीलाभ की अपेक्षा नहीं होती थी और जिन पर चढ़ाई गई भेंट तथा दान लाभदायक नहीं मानते थे, ऐसे अपरिचित देवताओं की वे पूजा नहीं करती थीं। प्रत्येक समुदाय का अपना एकदेव अथवा शायद देव तथा देवियां हुआ करते थे और उनका देवताओं के साथ किसी प्रकार का कोई रिश्ता नहीं होता था।"

प्राचीन समाज का देवता एक निराला देवता था। उस देवता का केवल एक ही जाति के साथ संबंध होता था और उस पर उसी एक जाति का अधिकार होता था। यह बात निम्न प्रकार सेस्पष्ट होती है :

"देवता अपने उपासकों के झगड़ों तथा युद्धों में भाग लेते थे। देवता के शत्रु और उसके उपासकों के शत्रु एक ही हुआ करते थे। इतना ही नहीं ओल्ड टेस्टामेंट में 'जहेवा के शत्रु' मौलिक रूप से वही हें, जो इजराइल के शत्रु थे। युद्ध में प्रत्येक देवता अपने लोगों के लिए लड़ता है और उसकी सहायता से ही सफलता मिलती है, ऐसामाना जाता है। चेमोश ने मोओब की और एशर ने असीरिया की सफलता का कारण बताया और कई बार इन दैवी प्रतिमाओं को अथवा चिह्नों को लड़ने वाले युद्ध में साथ ले जाते थे।जब आर्क को अजराइल के डेरे मे लाया गया, तब फिलीस्टाइन ने कहा, 'आर्क के रूप में देवता का हमारे डेरे में आगमन हुआ है और वह निश्चित ही अपनी सामर्थ्य से हमेंसफलता हासिल करा देगा,

क्योंकि जब डेविड ने उनका बालोपेराजिम में पराभव किया, तब लूट के माल में उन देवताओं की प्रतिमाएँ शामिल थीं, जो वे युद्ध-भूमि में अपनेसाथ ले गए थे। मेसीडोन के फिलिप राजा के साथ 'कार्थजिनियंस लोगों का जो समझौता हुआ था, उसमें उन लोगों ने इस तरह उल्लेख किया है - 'अभियान में भाग लेने वालेदेवता' का निस्संदेह उन पवित्र शिविरों के वासियों से संबद्ध हैं, युद्ध भूमि में जिनका शिविर मुख्य सेनापति के शिविर के साथ लगाया जाता था और जिसके सामने विजयके बाद कैदियों की बलि दी गई थी। उसी प्रकार से किसी अगर कवि ने कहा था, 'युगूथ हमारे साथ मोराद के विरुद्ध आया।' इसका मतलब है कि युगूथ देवता की प्रतिमा युद्धमें साथ लाई गई थी।"

इस तथ्य से यह सिद्ध होता है कि देवता और समाज में दृढ़ सामंजस्य था।

"अतः देवता और उनके उपासकों के बीच सामंजस्य के इस तत्व के आधार पर बने राजनीतिक समाज के विशेष गुण-धर्म के क्षेत्र में परिलक्षित होते हैं। इसी प्रकार से, जबकिसी समुदाय अथवा गाँव के देवता का उन लोगों की आराधना तथा सेवा पर निर्विवाद अधिकार होता है, जिनका वह देवता है, तब वह उनके शत्रुओं का शत्रु भी होता है और उनलोगों के लिए अनजान होता है, जिन्हें वे लोग नहीं जानते (दि रिलिजन आफ सैमाइट्स)।"

इस तरह देवता का एक समुदाय के साथ और समुदाय का अपने देवता के साथ संबंध स्थापित हो गया। देवता उस समुदाय का देवता और वह समुदाय उस देवता का मनोनीत समुदाय बनगया।

इस दृष्टिकोण के दो परिणाम हुए। प्राचीन समाज ने यह सिद्धांत कभी भी इस धारणा के रूप में स्वीकार नहीं किया कि देवता विश्वव्यापी है और वह सभी का देवता है।प्राचीन समाज में कभी भी यह धारणा नहीं बनी कि इस सबके अलावा समाज में मानवता नाम की कोई वस्तु है।

प्राचीन और आधुनिक समाज में जो तीसरा मतभेद है, उसका संबंध देवता के पितृत्व की संकल्पना के साथ है। प्राचीन समाज में देवता को लोगों का पिता माना जाता था, परंतु इस पितृत्व की संकल्पना का आधार शारीरिक माना गया था।

"मूर्ति-पूजक धर्मों में देवताओं के पितृत्व के रूप को माना जाता था। उदाहरण के लिए, ग्रीक लोगों की यह कल्पना कि जिस प्रकार से कुम्हार माटी से प्रतिमाएँबनाता है, उसी प्रकार से देवताओं ने मनुष्यों को मिट्टी से आकार प्रदान किया है; यह एक प्रार से आधुनिक कल्पना है। पुरानी धारणा यह है कि मनुष्य दोनों की माताहै और इस तरह मनुष्य वास्तव में देवताओं के वंश के अथवा उनके स्वजन बन जाते हैं। यही धारणा पुराने सेमाइट्स लोगों में बनी थी, ऐसा बाइबिल से स्पष्ट होता है।जैरेमिह लोग इन मूर्तियों का अपने पूर्वजों के रूप में वर्णन करते हैं जैसे, तुम मेरे पिता हो; और उस पत्थर को कहते हैं, तुम मुझे इस संसार में लाए। प्राचीनकविता नुम 21-29 में, मेआब लोगों को चेमोश देवता के पुत्र-पुत्री कहा गया है, और बहुत ही आधुनिक समय में मलाचि नाम के धर्मोपदेशक ने किसी मूर्तिपूजक स्त्री को 'विलक्षण देवता की पुत्री' कहा है। निस्संदेह यह सभी संबोधन उस भाषा का एक भाग है, जो इजरायल के पड़ोसी लोग अपने लिए प्रयोग करते थे। सीरिया और पेलेस्टिनियनदेशों में प्रत्येक जाति अथवा

अनेक छोटी जातियों का एक जमघट भी अपने-आपको स्वतंत्र जाति के रूप में मानता है और अपनी मूल उत्पत्ति का संबंध उस प्रथम पितामह (देवता) के साथ जोड़ता है। ग्रीक देश के लोगों की तरह उनके लिए भी यह पितामह अथवा वंश का उत्पत्तिदाता वंश का देवता ही होता है। बहुत से नवीनतम अन्वेषकों केअनुमान से ईसाई धर्म की पुस्तक के पहले खंड में प्रांतों की पुरानी वंशावली में अनेक देवताओं के नाम पाए जाते हैं। यह बात इस विचार के अनुरूप ही है। उदाहरण केतौर पर, एडोमाइट लोगों के उत्पत्तिदाता एडम की हिब्र लोगों ने जेकब के भाई ईशु के साथ पहचान बताई है, परंतु मूर्तिपूजकों के लिए वह देवता था। यह बात 'ओबेडेडम' लोगों से स्पष्ट होती है, जो 'एडम के उपासक' हैं। फोयनिशियन और बेबिलयन वंशों के वर्तमान वंशों की उत्पत्ति तब हुई, जब प्राचीन धर्म और प्रत्येक देवता को किसीजाति विशेष के साथ संबंधित होने की बात लोग भूल गए थे अथवा यह बात महत्त्वहीन बन गई थी, परंतु सर्वसाधारण रूप से यह धारणा आज भी प्रचलित है कि मनुष्य देवताओं कीसंतान है। फिलो बेबलिस वंश के लोगों के विश्व-निर्माण के फोयनिशियन सिद्धांत में यही धारणा कुछ अस्पष्ट रूप से व्यक्त की गई है। इसका कारण लेखक का संकोच था। इससिद्धांत के अनुसार, देवता दैवी पुरुष होते हैं, जो अपनी जाति के लिए महान उद्धारक का कार्य करते हैं। उसी प्रकार से बेरोसस लोगों की चाल्डियन पौराणिक कथा मेंयह धारणा कि मनुष्य भी देवों के रक्त संबंध के ही होते हैं, बहुत ही अपरिपक्व रूप से व्यक्त की गई है। यह कथा बहुत प्राचीन समय की नहीं है। इसमें यह कहा गया हैकि पशु-पक्षी तथा मनुष्य, सभी को उस मिट्टी से बनाया गया, जिसमें किसी सिर कटे देवता का रक्त मिलाया गया था (दि रिलिजन आफ सैमाइट्स)।"

मनुष्य तथा देवताओं के इस खून के रिश्ते की कल्पना का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम हुआ। प्राचीन संसार के लिए देवता भी मानव ही था और इसलिए वह परिपूर्ण सद्गुण तथाउत्तमता के योग्य नहीं था। देवताओं का स्वभाव भी मनुष्यों से मिलता-जुलता था, इसलिए मनुष्यों में जो भावनाएँ, बीमारी तथा दुर्गुण पाए जाते हैं, वे उनमें भी होतेथे। प्राचीन संसार के देवताओं की मनुष्यों के समान वासनाएँ तथा आवश्यकताएँ थीं और कई बार वे भी दुर्गुणों में व्यस्त हुआ करते थे, जिनसे अनेक लोग ग्रस्त थे।उपासकों को अपने देवताओं की इस बात के लिए प्रार्थना करनी पड़ती थी कि कहीं वे उन्हें लालच की ओर न ले जाएँ।

आधुनिक समाज में दैवी पितृत्व की कल्पना का प्राकृतिक आधार नैसर्गिक पितृत्व के पूर्ण रूप से संबंध विच्छेद हो गया। उसके स्थान पर यह कल्पना प्रचलित हो गई किमनुष्य की देवता के रूप में निर्मिति होती है, वह वास्तव में देवता से उत्पन्न नहीं होता। देवता के पितृत्व की कल्पना में आए इस परिवर्तन को यदि नैतिक दृष्टि सेदेखा जाए, तो उसके कारण देवता के सृष्टि के संचालनकर्ता रूप में बहुत भारी परिवर्तन आया है। देवता को उसके प्राकृतिक रूप में परिपूर्ण उत्तमता और सद्गुणों केयोग्य नहीं माना जाता था और जब देवता ही अपने सदाचार में परिपूर्ण नहीं था, तब उसके अनुसरण से यह सृष्टि भी सदाचार से परिपूर्ण हो, ऐसी अपेक्षा नहीं की जा सकतीथी। देवता के मनुष्य के साथ शारीरिक संबंधों के विच्छिन होने के कारण अब यह कल्पना की ही जा सकती है कि देवता उत्तमता एवं सद्गुणों से परिपूर्ण हो।

मतभेद का चौथा मुद्दा, जब राष्ट्रीयता में परिवर्तन होता है, तब धर्म को जो भूमिका निभानी पड़ती है, उससे संबंधित है।

प्राचीन संसार में जब तक धर्म-परिवर्तन न किया जाए, राष्ट्रीयता में परिवर्तन नहीं हो सकता था। प्राचीन संसार में -

"किसी व्यक्ति के लिए अपनी राष्ट्रीयता में परिवर्तन किए बगैर धर्म-परिवर्तन करना असंभव था और संपूर्ण जाति के लिए धर्म परिवर्तन करना तब तक असंभव था, जब तक किउन्हें किसी जाति में अथवा राष्ट्र में पूर्णरूप से समाहित न कर लिया जाए। राजनीतिक संबंधों की तरह धर्म भी पुत्र को अपने पिता से प्राप्त होता था, क्योंकिमनुष्य अपनी इच्छाओं से नए देवता का चयन नहीं कर सकता था। अपने रिश्ते-नातों का त्याग करके उसे दूसरे नागरिक जीवन तथा धार्मिक जीवन के समुदाय में जब तक स्वीकारन किया जाए, तब तक उसके लिए उसके पिता के देवता ही एकमात्र ऐसे देवता होते थे, जिनपर वह मैत्री निर्भर रह सकता था और जो उसकी पूजा को स्वीकार कर सकते थे।"

सामाजिक एकरूपता के लिए धर्म-परिवर्तन की कसौटी की तरह आवश्यक होती थी, यह बात ओल्ड टेस्टामेंट के 'नाओमी' और 'रूथ' के बीच संवाद से स्पष्ट होती है।

नाओमी रूथ से कहता है, 'तुम्हारी बहन उसके अपने लोगों में और अपने देवताओं में चली गई है।'

और रूथ उत्तर देता है, 'तुम्हारे लोग मेरे लोग होंगे और तुम्हारा ईश्वर मेरा ईश्वर होगा।'

यह बात सर्वथा स्पष्ट है कि प्राचीन संसार में राष्ट्रीयता में परिवर्तन के लिए संप्रदाय (पंथ) परिवर्तन अनिवार्य था। सामाजिक एकरूपता का मतलब धार्मिक एकरूपताथा।

आधुनिक समाज में सामाजिक एकरूपता के लिए किसी एक धर्म का त्याग करना अथवा दूसरे धर्म को स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। यह बात आधुनिक व्याख्या में, जिसेस्वाभावीकरण कहा जाता है, जिसमें एक राज्य का नागरिक अपनी नागरिकता का त्याग करता है और किसी नए राज्य का नागरिक बनता है। स्वाभावीकरण की इस प्रक्रिया में धर्मका कोई स्थान नहीं है। कोई भी व्यक्ति धार्मिक एकरूपता प्राप्त कर सकता है और इसी का दूसरा नाम स्वाभावीकरण है।

आधुनिक समाज की प्राचीन समाज से भिन्नता स्पष्ट करने के लिए केवल इतना कहना ही पर्याप्त नहीं है कि आधुनिक समाज केवल मनुष्यों का बना है। उसके साथ, यह बात भीमाननी होगी कि आधुनिक समाज उन मनुष्यों का बना है, जो भिन्न-भिन्न देवताओं की पूजा करते हैं।

मत-भिन्नता का पाँचवाँ मुद्दा धर्म के एक भाग के रूप में देवताओं के स्वरूप के ज्ञान से संबंधित है।

"प्राचीन दृष्टिकोण से देवता स्वयं क्या है, यह प्रश्न धार्मिक नहीं, किंतु काल्पनिक है। धर्म के लिए आवश्यक है कि देवता जिन नियमों का पालन करते हैं, उनकेउपासकों को उनकी व्यावहारिक

जानकारी हो और उसके तदनुसार आचरण करने की अपेक्षा करते हैं। इसे 2 किंग्स के पाठ 17, श्लोक 26 में धरती के 'आचार' अथवा प्रायः 'पारंपरिक नियम' (मिस्फात) कहा गया है। यह बात इजराइल के धर्म के लिए भी लागू है। जब धर्मोपदेशक अपनी सरकार के कानूनों तथा सिद्धांतों के ज्ञान की बात करते हैंऔर पूरे धर्म का सार स्पष्टाफ्रते हैं, तब वह 'जहोवा का ज्ञान तथा भय' ही है अर्थात जहोवा ने क्या निर्देश दिए हैं, वे निर्देश और उनका आदरयुक्त पालन।धर्मोपदेशकों के ग्रंथों में सभी धार्मिक सिद्धांतों के प्रति अत्यधिक संदेह व्यक्त किया गया है, जो धर्मनिष्ठ व्यक्ति के लिए उचित है, क्योंकि कितनी भी चर्चाकी जाए, वह मनुष्य को इस सरल निमय के आगे नहीं ले जा सकती है कि 'ईश्वर से डरे और उसकी आज्ञा को पालन करे।' यह उपदेश लेखक ने सोलोमन के मुख से दिया है और इसलिएवह, अन्यायपूर्ण पद्धति से नहीं, बल्कि धर्म के प्रति प्राचीन दृष्टिकोण का निश्चित ही प्रतिनिधित्व करती है, जिसका दुर्भाय से आधुनिक काल में महत्व धीरे-धीरेकम हो गया।"

मत-भिन्नता का छठा मुद्दा धर्म में आस्था का जो स्थान है, उससे संबंधित है। प्राचीन समाज में -

"यदि स्पष्ट कहा जाए, तो संस्कार तथा व्यावहारिक परंपराएँ, यही प्राचीन धर्म का कुल-मिलाकर सार था। प्राचीन काल में धर्म व्यावहारिक रूप से आस्था की पद्धतिनहीं थी, इसे एक स्थिर पारंपारिक क्रिया की संस्था माना जाता था, जिसमें समाज का प्रत्येक सदस्य निर्भय सहमति व्यक्त करता था। मनुष्य-मनुष्य नहीं होगा यदि वहबिना किसी तर्क के कोई कार्य करने के लिए सम्मति दे; परंतु प्राचीन धर्म में पहले तर्कों की सिद्धांत रूप से रचना करके बाद में उस पर आचरण नहीं किया गया। इसकेविपरीत, पहले आचरण किया गया और बादमें सिद्धांतों की रचना की गई। मनुष्यों ने सर्वासाधारण तत्वों को शब्दों में व्यक्त करने के पहले आचार-संहिता के नियम बनाए।राजनीतिक संस्थाएं धार्मिक सिद्धांतों से पुरानी हैं और इसी प्रकार धार्मिक संस्थाएं धार्मिक सिद्धांतों से पुरानी हैं। इस तुलना पर चयन किसी ने अपनी मर्जी सेनहीं किया है, क्योंकि प्राचीन समाज में वास्तव में धार्मिक तथा राजनीतिक संस्थाओं में परिपूर्ण समानता थी। प्रत्येक क्षेत्र में पूर्व तथा संस्कारों का भारीमहत्व था, परंतु इस पूर्व परंपरा का पालन क्यों किया जाता है, इसका स्पष्टीकरण केवल उसकी प्रथम स्थापना की किंवदती बताकर दिया जाता था। कोई भी प्रथा, एक बारस्थापित हो जाए, उसे अधिकार-युक्त माना जाता था और उसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती थी। समाज के नियम पूर्व निर्णयों पर आधारित होते थे और समाज काअस्तित्व निरंतर बना रहा है और इस बात को न्यायसंगत ठहराने के लिए यही कारण पर्याप्त था कि एक प्रथा स्थापित हो जाने के बाद उसे जारी क्यों न रखा जाए।"

मत-भिन्नता का सातवां मुद्दा धर्म में व्यक्तिगत विश्वास से संबंधित है।

प्राचीन समाज में -

"मनुष्य जिस समाज में जन्म लेता है, उस समाज के संगठित सामाजिक जीवन का धर्म एक हिस्सा था और मनुष्य अपने जीवन में उसका अवचेतनावस्था में उसी प्रकार पालन करतारहता था, जिस प्रकार किसी समाज में रह रहा व्यक्ति उसकी व्यावहारिक प्रथाओं का पालन करता है। जिस प्रकार व्यक्ति राज्य की अनेक प्रथाओं को मानकर उनका अनुसरणकरता है, उसी प्रकार देवताओं तथा उनकी

उपासना को भी स्वीकार करता है और यदि उन्होंने उस पर कोई बहस की अथवा संदेह प्रकट किया तो वह भी इसी धारणा पर आधारित होताथा कि पारंपरिक प्रथाएँ स्थिर हैं और उससे परे हटकर कोई भी बहस नहीं की जानी चाहिए और उन्हें किसी भी तर्क के आधार पर बदलने की स्वतंत्रता नहीं थीं। हमारे लिएआधुनिक धर्म सर्वप्रथम वैयक्तिक विश्वास तथा तर्कपूर्ण श्रद्धा की बात है, किंतु प्राचीन लोगों के लिए वह प्रत्येक नागरिक के सार्वजनिक जीवन का भाग था, जोकिन्हीं निश्चित रूपों में बंधा था और जिसे समझने की उसे जरूरत नहीं थी और न ही उसे उसकी आलोचना अथवा उपेक्षा करने की स्वतंत्रता थी।

धार्मिक अवज्ञा शासन केविरुद्ध अपराध माना जाता था। अगर पवित्र परंपराओं से खिलवाड़ किया जाए तो समाज का आधार ही टूट जाता है और ईश्वर की कृपा से भी वंचित होना पड़ता है, परंतु जब तकमनुष्य निर्देशित आज्ञाओं का पालन करता था, तब तक उसे सच्चे धार्मिक मनुष्य के रूप में मान्यता थी और उसे किसी से यह नहीं पूछना पड़ता था कि धर्म उसके अंतःकरणमें कितना बस गया है अथवा उसके विवेक पर उसका गहरा प्रभाव पड़ा है। राजनीतिक कर्तव्यों की तरह, जिसका वह एक अविभाजित भाग था, धर्म भी पूर्णतः बाह्य आचरण के कुछनिश्चित नियमों के पालन से ही ग्रहण किया जाता था।"

मतभेद का आठवां मुद्दा, देवता के समाज तथा मनुष्य के साथ संबंध और देवता के अधिकारों के संदर्भ में समाज के साथ संबंधों के बारे में है।

पहले हम देवता के समाज के साथ संबंधों में मत-भिन्नता को देखें। इस संबंध में हमारे लिए तीन बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है।

प्राचीन विश्व की श्रद्धा ने -

"भगवान से प्राकृतिक सुखों से अधिक कुछ नहीं मांगा।... भगवान के सम्मुख जो उत्तम मनोकामनाएँ रखी जाती थीं, वह सुखी सांसारिक जीवन, विशेषकर भौतिक आवश्यकताएँ हीहोती थीं।"

प्राचीन समाज जो चीजें माँगता था और विश्वास रखता था कि वे उसे अपने देवता से मिलेंगी, वे मुख्य रूप से निम्नलिखित होती थीं -

"भरपूर उपज, शत्रु के विरुद्ध सहायता और नैसर्गिक आपत्तियों में देववाणी द्वारा उपदेश अथवा किसी वक्ता द्वारा सलाह।"

प्राचीन संसार में -

"धर्म एक व्यक्ति का नहीं, बल्कि सारे समाज का विषय था। पूरे समाज को, न कि एक व्यक्ति को देवता की स्थिर और कभी असफल न होने वाली भूमिका में विश्वास था।"

अब हम देवता के साथ संबंधों के अंतर को देखें।

"प्रत्येक व्यक्ति के कल्याण की ओर विशेष रूप से ध्यान देना मूर्तिपूजा के देवताओं का कार्य नहीं था। यह सच है कि लोग अपनी निजी बातें देवता के सामने रखते औरउससे प्रार्थना तथा इच्छा व्यक्त करके व्यक्तिगत आशीर्वाद माँगते थे, लेकिन ऐसा वे उसी प्रकार करते थे जैसे किसी राजा से कोई निजी उपहार की माँग करता है अथवाजैसे कोई पुत्र अपने पिता से कुछ उपहार माँगते हैं और यह उपेक्षा नहीं करता कि वह सब मिल जाएगा, जिसकी वह माँग कर रहे हैं। ऐसे प्रसंगों पर देवता यदि कुछ दे भीदे तो उसे एक निजी उपहार ही माना जाता था और देवता के समाज के प्रमुख के रूप में जो योग्य कर्तव्य थे, उसका यह भाग नहीं था।

मनुष्य के नागरिक जीवन पर देवताओं का नियंत्रण था। वे उसे सार्वजनिक लाभ, अनाज की वार्षिक उपज तथा भरपूर फसल, राष्ट्रीय शांति अथवा शत्रु पर विजय आदि लाभपहुँचाते थे, परंतु वे प्रत्येक निजी आवश्यकता में सहायता करेंगे ही, यह आवश्यक नहीं था और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि देवता किसी भी व्यक्ति की उन कामोंमें मदद नहीं करते थे, जो समूचे समाज के हितों के विरुद्ध होते थे। इसलिए उन सभी संभावित आवश्यकताओं तथा इच्छाओं का, जिन्हें धर्म पूरा करेगा अथवा नहीं करेगा, एक अलग क्षेत्र बना हुआ था।"

अब देवता तथा समाज की मनुष्य के प्रति जो भावना है, उसके अंतर को देखते हैं।

प्राचीन संसार में समाज का व्यक्तिगत कल्याण से लगाव नहीं होता था। निस्संदेह देवता समाज से बंधा होता था, परंतु -

"देवता तथा उसके उपासकों में ऐसा कोई समझौता नहीं था कि समाज में प्रत्येक सदस्य की निजी चिंता को देवता अपनी चिंता मानें। विशेष रूप से फलदायी मौसम, पशुधन मेंवृद्धि तथा युद्ध में विजय, ऐसे सार्वजनिक लाभ, जो सारे समाज को प्रभावित करते हैं, इनकी देवताओं से अपेक्षा की जाती थी और जब तक समाज फल-फूल रहा है, तब तक किसीका व्यक्तिगत दुःख दिव्य देवता की किसी भी प्रकार अवमानना नहीं करता था।"

इसके विपरीत प्राचीन संसार किसी मनुष्य के दुःख को प्रमाण मानता था, "कि ऐसे व्यक्ति ने कुकर्म किया था और देवताओं की घृणा न्यायपूर्ण थी। ऐसे मनुष्य के लिए उनलोगों के बीच कोई स्थान नहीं होता था, जो किसी उत्सव को मनाने के लिए देवता के समक्ष खड़े हों।"

इस दृष्टिकोण के अनुसार ही कोढ़ से पीड़ित तथा शोकग्रस्त लोगों को धर्म के पालन से तथा सभी सामाजिक सुविधाओं से बाहर रखा जाता था और ऐसे व्यक्ति को उस देवस्थान परनहीं लाया जाता था, जहाँ प्रसन्न तथा धनी लोगों की भीड़ समारोह मनाने के लिए एकत्र होती थी।

जहाँ तक व्यक्ति-व्यक्ति और व्यक्ति तथा समाज के बीच का विवाद है, देवता का उसके साथ कोई संबंध नहीं होता था। प्राचीन संसार में -

"मनुष्य के कार्यों में होने वाली भूलों को सुधारने में देवता निरंतर व्यस्त रहें, ऐसी उनसे अपेक्षा नहीं की जाती थी। सामान्य बातों में मनुष्यों का यह कर्तव्यथा कि वे अपनी और सगे संबंधियों की सहायता करें, यद्यपि यह धारणा कि देवता हमेशा हमारे साथ है और आवश्यकता पड़ने पर उसे बुलाया जा सकता है, समाज को एक प्रकार कीनैतिक शक्ति प्रदान करती थी और उससे हमेशा समाज में सदाचार तथा नैतिक व्यवस्था बनी रहती थी, किंतु सही अर्थ में देखा जाए तो इस नैतिक शक्ति का प्रभाव बहुत हीअनिश्चित हुआ करता था, क्योंकि प्रत्येक अनाचारी के लिए खुशफहमी की यह भावना बनी रहती थी कि उसका अपराध अनदेखा कर दिया जाएगा।

प्राचीन संसार में मनुष्य की देवतासे न्यायसंगत रहने की अपेक्षा नहीं थी। चाहे कोई नागरिक समस्या हो अथवा अनाचार की बात हो, प्राचीन लोगों की प्रवृत्ति समाज के बारे में ज्यादा सोचने की औरव्यक्ति के बारे में कम सोचने की होती थी और कोई भी व्यक्ति उसे अन्यायपूर्ण नहीं मानता था, यद्यपि यह बात स्वयं उससे संबंधित होती थी। देवता पूरे राष्ट्र काअथवा पूरे कबीले का हुआ करता था और वह किसी व्यक्ति की चिंता समुदाय के एक सदस्य के रूप में ही करता था।"

'अपने निजी दुर्भाग्य के लिए' मनुष्य की प्रवृत्ति प्राचीन संसार में इसी प्रकार की थी। मनुष्य देवता के समक्ष प्रसन्न होने के लिए जाता था और -

"अपने देवताओं के सामने प्रसन्न होते समय अपने सगे-संबंधियों, पड़ोसियों के साथ उनके तथा देश के लिए प्रसन्न होता था। वह अपनी उपासना से देवता के साथ अपने बंधनका एक प्रतिज्ञा के रूप में नवीकरण करता था और साथ ही अपने पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय उत्तरदायित्व के बंधनों का भी स्मरण कर उन्हें दृढ़ आधार प्रदान करताथा।"

प्राचीन संसार में मनुष्य ने कभी भी अपने विधाता से उपासना करते समय यह नहीं कहा कि वह उसके प्रति न्यायसंगत व्यवहार करे।

धर्म मे यह दूसरी क्रांति ऐसी है।

इस प्रकार से दो धार्मिक क्रांतियाँ हुई हैं। एक बाहरी क्रांति थी, दूसरी आंतरिक क्रांति थी। बाह्य क्रांति का संबंध धर्म के अधिकार क्षेत्र से संबंधित था।आंतरिक क्रांति, धर्म में मानव समाज को नियंत्रित करने की दैवी योजना के रूप में जो परिवर्तन हुए, उससे संबंधित थी। बाह्य क्रांति को वास्तव में धार्मिक क्रांतिनहीं माना जा सकता है। वह एक प्रकार से, जो क्षेत्र धर्म के अधीन नहीं थे, उनका अनधिकृत विस्तार था, उनके विरुद्ध विज्ञान का विद्रोह था। आंतरिक क्रांति को सहीरूप में क्रांति माना जा सकता है और उसकी तुलना किसी भी अन्य राजनीतिक क्रांति के साथ की जा सकती है, जैसे फ्रांसीसी क्रांति अथवा रूसी क्रांति। उसमें संवैधानिकबदलाव का अंतर्भाव था। इस क्रांति से दैवी नियंत्रण की योजना में सुधार हुआ, बदलाव आया और उसकी संवैधानिक पुनर्रचना हुई।

इस अंदरूनी क्रांति ने प्राचीन समाज के दैवी प्रयास की योजना में कितने व्यापक बदलाव किए, यह बात सहजता से देखी जा सकती है। इस क्रांति से देवता समाज का सदस्यनहीं रहा, इस कारण वह समदर्शी बन गया। संसार के व्यावहारिक अर्थ में देवता मनुष्य का पिता नहीं रहा, वह विश्व का निर्माता बन गया। खून का यह रिश्ता टूटने से यहधारणा बनाना संभव हो गया कि देवता उत्तम है। इस क्रांति के कारण मनुष्य देवता का अंधभक्त नहीं रहा, जो उसकी आज्ञा का पालन करने के अलावा कुछ नहीं करता। इसकेकारण मनुष्य एक ऐसा जिम्मेदार व्यक्ति बन गया, जिसे देवताओं की आज्ञाओं के प्रति अपनी विवेकपूर्ण श्रद्धा के औचित्य को सिद्ध करना पड़ता था। इस क्रांति के कारण, देवता समाज का संरक्षणकर्ता है, यह धारणा नहीं रही और सामाजिक हित संबंध ठोस रूप मेंदैवी-व्यवस्था का केंद्र नहीं रहे। इसके स्थान पर मनुष्य उसका केंद्र बिंदुबन गया।

एक दैवी प्रशासन के रूप में धर्म के प्रति स्थापित धारणाओं में जो क्रांति हुई, उसका इस प्रकार विश्लेषण करने का एकमात्र उद्देश्य यह है कि धर्म के दर्शन कामूल्यांकन करने के लिए कुछ नियम खोजे जा सके। कोई उतावले स्वभाव का पाठक यह पूछ सकता है कि वह नियम कहां है और वे क्या हैं? उपरोक्त चर्चा में शायद पाठक को इननियमों का उनके नाम से उल्लेख नहीं मिला होगा, परंतु यह बात उसके ध्यान में आएगी कि संपूर्ण धार्मिक क्रांति, क्या सही है और क्या गलत है, इन मानदंडों को परखनेके इर्द-गिर्द ही घूम रही थी। यदि वह इस बात को नहीं समझता, तो मुझे उस बात को सुस्पष्ट करने दिया जाए, जो इस सारी चर्चा में अस्पष्ट है। हमने अपनी चर्चाप्राचीन समाज तथा आधुनिक समाज में जो अंतर हैं, उससे आरंभ की थी और जैसा कि हमने देखा है, उन्होंने अपने धार्मिक आदर्श के रूप में दैवी शासन की जिस योजना कोस्वीकार किया, उसमें भिन्नता है। क्रांति के एक सिरे पर वह आधुनिक समाज है, जिसके धार्मिक आदर्श का लक्ष्य उसका समाज था।

क्रांति के दूसरे सिरे पर वह आधुनिकसमाज है, जिसके धार्मिक आदर्श का लक्ष्य एक व्यक्ति था। इन्हीं तथ्यों को यदि हम नियमों में ढाल दें, तो हम कह सकते हैं कि प्राचीन समाज के लिए सही अथवा गलत बातको परखने के लिए जैसे नियम अथवा कसौटी थी, वह थी 'उपयोगिता', जबकि आधुनिक समाज के लिए यह 'न्याय' है। इस प्रकार जिस समाज में केंद्रीय भावना समाज के व्यक्ति मेंबदल गई, वह एक प्रकार की नियमों की क्रांति थी।

मैंने जो नियम सूचित किए हैं, शायद कुछ लोग उसका विरोध करें। कदाचित, यह उनके लिए एक नया रास्ता होगा, परंतु मेरे मन में कोई संदेह नहीं है कि धर्म के दर्शन कोपरखने के लिए यही वास्तविक नियम हैं। पहली बात, यह नियम लोगों को, मनुष्य के आचरण में क्या सही और क्या गलत है, यह परखने योग्य बनाए, दूसरे यह नियम, नैतिकउत्तमता जिससे बनी है, उसकी वर्तमान धारणाओं के अनुरूप हो। इन दोनों दृष्टिकोण से वे नियम सही दिखाई देते हैं।

क्या सही है और क्या गलत है, ये नियम हमें यहपरखने की योग्यता देते हैं। जिस समाज ने उनको स्वीकार किया है, यह नियम उसके अनुरूप ही हैं, क्योंकि वहाँ लक्ष्य था। समाज और सामाजिक उपयुक्तता को ही नैतिक आचरणमाना जाता था। न्याय, यह कसौटी आधुनिक समाज के अनुरूप है, जिसमें व्यक्ति को लक्ष्य माना गया है और उस व्यक्ति को न्याय मिले, इसे ही नैतिक उत्तमता माना गया

है। यह विवाद का विषय हो सकता है कि इन दो प्रकार के नियमों में से कौन-सा नैतिक नियम दृष्टि से श्रेष्ठ है, परंतु मैं नहीं सोचता कि यह नियम नहीं हैं, इस बात परकोई गंभीर विवाद हो सकता है। यह कहा जा सकता है कि यह नियम श्रेष्ठ नहीं है। इस पर मेरा उत्तर यह है कि धर्म के दर्शन को परखने के नियम दैवी होने के साथ-साथप्राकृतिक भी होने चाहिए। कोई कुछ भी कहे, हिंदुत्व के दर्शन का परीक्षण करने के लिए मैं इन्हीं नियमों को स्वीकार करना चाहूँगा।

******

अगले अंक में जारी.....

शिक्षा संवाद
2024, 11(1): 31-36
ISSN: 2348-5558
©2024, संपादक, शिक्षा संवाद, नई दिल्ली

कहानी

टोबा टेकसिंह

सआदत हसन मंटो

बंटवारे के दो-तीन साल बाद पाकिस्तान और हिंदुस्तान की हुकूमतों को ख्याल आया कि अख्लाकी कैदियों की तरह पागलों का भी तबादला होना चाहिए, यानी जो मुसलमान पागल हिन्दुस्तान के पागलखानों में हैं उन्हें पाकिस्तान पहुंचा दिया जाय और जो हिन्दू और सिख पाकिस्तान के पागलखानों में है उन्हें हिन्दुस्तान के हवाले कर दिया जाय।

मालूम नहीं यह बात माकूल थी या गैर-माकूल थी। बहरहाल, दानिशमंदों के फैसले के मुताबिक इधर-उधर ऊँची सतह की कांफ्रेंसें हुई और दिन आखिर एक दिन पागलों के तबादले के लिए मुकर्रर हो गया। अच्छी तरह छान बीन की गयी। वो मुसलमान पागल जिनके लवाहिकीन (सम्बन्धी) हिन्दुस्तान ही में थे वहीं रहने दिये गये थे। बाकी जो थे उनको सरहद पर रवाना कर दिया गया। यहां पाकिस्तान में चूंकि करीब-करीब तमाम हिन्दु सिख जा चुके थे इसलिए किसी को रखने-रखाने का सवाल ही न पैदा हुआ। जितने हिन्दू-सिख पागल थे सबके सब पुलिस की हिफाजत में सरहद पर पहुंचा दिये गये।

उधर का मालूम नहीं। लेकिन इधर लाहौर के पागलखानों में जब इस तबादले की खबर पहुंची तो बड़ी दिलचस्प चीमेगोइयां होने लगी। एक मुसलमान पागल जो बारह बरस से हर रोज बाकायदगी के साथ *जमींदार* पढ़ता था, उससे जब उसके एक दोस्त ने पूछा-

-- मोल्हीसाब। ये पाकिस्तान क्या होता है ?

तो उसने बड़े गौरो फिक्र के बाद जवाब दिया-

-- हिन्दुस्तान में एक ऐसी जगह है जहां उस्तरे बनते हैं।

ये जवाब सुनकर उसका दोस्त मुतमइन हो गया।

इसी तरह एक और सिख पागल ने एक दूसरे सिख पागल से पूछा--

-- सरदार जी हमें हिन्दुस्तान क्यों भेजा जा रहा है - हमें तो वहां की बोली नहीं आती।

दूसरा मुस्कराया-

-- मुझे तो हिन्दुस्तान की बोली आती है - हिंदुस्तानी बड़े शैतानी आकड़ -आकड़ फिरते हैं।

एक मुसलमान पागल ने नहाते-नहाते 'पाकिस्तान जिन्दाबाद' का नारा इस जोर से बुलन्द किया कि फर्श पर फिसल कर गिरा और बेहोश हो गया।

बाज पागल ऐसे थे जो पागल नहीं थे। उनमें अकसरियत ऐसे कातिलों की थी जिनके रिश्तेदारों ने अफसरों को दे-दिलाकर पागलखाने भिजवा दिया था कि फांसी के फंदे से बच जायें। ये कुछ-कुछ समझते थे कि हिंदुस्तान क्या तकसीम हुआ और यह पाकिस्तान क्या है, लेकिन सही वाकेआत से ये भी बेखबर थे। अखबारों से कुछ पता नहीं चलता था और पहरेदार सिपाही अनपढ़ और जाहिल थे। उनकी गुफ्तगू (बातचीत) से भी वो कोई नतीजा बरआमद नहीं कर सकते थे। उनको सिर्फ इतना मालूम था कि एक आदमी मुहम्मद अली जिन्ना है, जिसको कायदे आजम कहते हैं। उसने मुसलमानों के लिए एक अलाहेदा मुल्क बनाया है जिसका नाम पाकिस्तान है। यह कहां है ?इसका महल-ए-वकू (स्थल) क्या है इसके मुतअल्लिक वह कुछ नहीं जानते थे। यही वजह है कि पागल खाने में वो सब पागल जिनका दिमाग पूरी तरह माउफ नहीं हुआ था, इस मखमसे में गिरफ्तार थे कि वो पाकिस्तान में हैं या हिन्दुस्तान में। अगर हिन्दुस्तान में हैं तो पाकिस्तान कहां है। अगर वो पाकिस्तान में है तो ये कैसे हो सकता है कि वो कुछ अरसा पहले यहां रहते हुए भी हिन्दुस्तान में थे। एक पागल तो पाकिस्तान और हिन्दुस्तान, और हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के चक्कर में कुछ ऐसा गिरफ्तार हुआ कि और ज्यादा पागल हो गया। झाड़ू देते-देते एक दिन दरख्त पर चढ़ गया और टहनी पर बैठ कर दो घंटे मुस्तकिल तकरीर करता रहा, जो पाकिस्तान और हिन्दुस्तान के नाजुक मसअले पर थी। सिपाहियों ने उसे नीचे उतरने को कहा तो वो और ऊपर चढ़ गया। डराया, धमकाया गया तो उसने कहा-

-- मैं न हिन्दुस्तान में रहना चाहता हूं न पाकिस्तान में। मैं इस दरख्त पर ही रहूंगा।

एक एम. एससी. पास रेडियो इंजीनियर में, जो मुसलमान था और दूसरे पागलों से बिल्कुल अलग-थलग, बाग की एक खास रविश (क्यारी) पर सारा दिन खामोश टहलता रहता था, यह तब्दीली नमूदार हुई कि उसने तमाम कपड़े उतारकर दफादार के हवाले कर दिये और नंगधंडंग़ा सारे बाग में चलना शुरू कर दिया।

यन्यूट के एक मौटे मुसलमान पागल ने, जो मुस्लिम लीग का एक सरगर्म कारकुन था और दिन में पन्द्रह-सोलह मरतबा नहाता था, यकलख्त (एकदम) यह आदत तर्क (छोड़)कर दी। उसका नाम मुहम्मद अली था। चुनांचे उसने एक दिन अपने जिंगले में ऐलान कर दिया कि वह कायदे आजम मोहम्मद अली जिन्ना है। उसकी देखादेखी एक सिख पागल मास्टर तारासिंह बन गया। करीब था कि उस जिंगले में खून-खराबा हो जाय, मगर दोनों को खतरनाग पागल करार देकर अलहदा-अलहदा बन्द कर दिया गया।

लाहौर का एक नौजवान हिन्दू वकील था जो मुहब्बत में मुब्तिला होकर पागल हो गया था। जब उसने सुना कि अमृतसर हिन्दुस्तान में चला गया है तो उसे बहुत दुख हुआ। इसी शहर की एक हिन्दू लड़की से उसे मुहब्बत हो गयी थी। गो उसने इस वकील को ठुकरा दिया था, मगर दीवानगी की हालत में भी वह उसको नहीं भूला था। चुनांचे वह उन तमाम मुस्लिम लीडरों को गालियां देता था, जिन्होंने मिल मिलाकर हिन्दुस्तान के दो टुकड़े कर दिये-- उसकी महबूबा हिंदुस्तानी बन गयी और वह पाकिस्तानी।

जब तबादले की बात शुरू हुई तो वकील को कई पागलों ने समझाया कि वह दिल बुरा न करे,उसको हिन्दुस्तान वापस भेज दिया जायेगा। उस हिन्दुस्तान में जहां उसकी महबूबा रहती है। मगर वह लाहौर छोड़ना नहीं चाहता था-- इस ख्याल से कि अमृतसर में उसकी प्रैक्टिस नहीं चलेगी।

यूरोपियन वार्ड में दो एंग्लो-इण्डियन पागल थे। उनको जब मालूम हुआ कि हिन्दुस्तान को आजाद करके अंग्रेज चले गये हैं तो उनको बहुत रंज हुआ। वह छुप-छुप कर इस मसअले पर गुफ्तगू करते रहते कि पागलखने में उनकी हैसियत क्या होगी। यूरापियन वार्ड रहेगा या उड़ जायगा। ब्रेकफास्ट मिलेगा या नहीं। क्या उन्हें डबलरोटी के बजाय ब्लडी इण्डियन चपाती तो जहरमार नहीं करनी पड़ेगी ?

एक सिख था जिसको पागलखाने में दाखिल हुए पन्द्रह बरस हो चुके थे। हर वक्त उसकी जबान पर अजीबोगरीब अल्फाज सुनने में आते थे, 'ओपड़ी गुड़गुड़ दी एन्क्स दी बेध्याना विमन्ग दी बाल आफ दी लालटेन।' वो न दिन में सोता था न रात में। पहरेदारों का कहना था कि पन्द्रह बरस के तवील अर्से में एक एक लम्हे के लिए भी नहीं सोया। लेटा भी नहीं था। अलबना किसी दीवार के साथ टेक लगा लेता था।

हर वक्त खड़ा रहने से उसके पांव सूज गये थे। पिंडलियां भी फूल गयीं थीं। मगर इस जिस्मानी तकलीफ के बावजूद वह लेटकर आराम नहीं करता था। हिन्दुस्तान-पाकिस्तान और पागलों के तबादले के मुतअिल्लक जब कभी पागलखाने में गुफ्तगू होती थी तो वह गौर से सुनता था। कोई उससे पूछता कि उसका क्या खयाल है तो बड़ी संजीदगी से जवाब देता, 'ओपड़ी गुड़गुड़ दी एन्क्स दी बेध्याना विमन्ग दी वाल आफ दी पाकिस्तान गवर्नमेंट।'

लेकिन बाद में आफ दी पाकिस्तान गवर्नमेंट की जगह आफ दी टोबा टेकसिंह गवर्नमेंट ने ले ली और उसने दूसरे पागलों से पूछना शुरू किया कि टोबा टेकसिंह कहां है जहां का वो रहने वाला है। लेकिन किसी को भी नहीं मालूम था कि वो पाकिस्तान में है या हिन्दुस्तान में। जो यह बताने की कोशिश करते थे वो खुद इस उलझाव में गिरफ्तार हो जाते थे कि स्याल कोटा पहले हिन्दुस्तान में होता था, पर अब सुना है कि पाकिस्तान में है। क्या पता है कि लाहौर जो अब पाकिस्तान में है कल हिन्दुस्तान में चला जायगा या सारा हिन्दुस्तान हीं पाकिस्तान बन जायेगा। और यह भी कौन सीने पर हाथ रखकर कह सकता था कि हिन्दुस्तान और पाकिस्तान दोनों किसी दिन सिरे से गायब नहीं हो जायेंगे।

उस सिख पागल के केस छिदरे होके बहुत मुख्तसर रह गये थे। चूंकि वह बहुत कम नहाता था इसलिए दाढ़ी और बाल आपस में जम गये थे जिनके बाइस (कारण) उसकी शक्ल बड़ी भयानक हो गयी थी। मगर आदमी बेजरर (अहानिकारक) था। पन्द्रह बरसों में उसने किसी से झगड़ा-फसाद नहीं किया था। पागलखाने के जो पुराने मुलाजिम थे वो उसके मुतअलिक इतना जानते थे कि टोबा टेकसिंह में उसकी कई जमीनें थीं। अच्छा खाता-पीता जमींदार था कि अचानक दिमाग उलट गया। उसके रिश्तेदार लोहे की मोटी-मोटी जंजीरों में उसे बांधकर लाये और पागलखाने में दाखिल करा गये।

महीने में एक बार मुलाकात के लिए ये लोग आते थे और उसकी खैर-खैरियत दरयाफ्त करके चले जाते थे। एक मुद्दत तक ये सिलसिला जारी रहा, पर जब पाकिस्तान हिन्दुस्तान की गड़बड़ शुरू हुई तो उनका आना बन्द हो गया।

उसका नाम बिशन सिंह था। मगर सब उसे टोबा टेकसिंह कहते थे। उसको ये मालूम नहीं था कि दिन कौन-सा है, महीना कौन-सा है या कितने दिन बीत चुके हैं। लेकिन हर महीने जब उसके अजीज व अकारिब (सम्बन्धी) उससे मिलने के लिए आते तो उसे अपने आप पता चल जाता था। चुनांचे वो दफादार से कहता कि उसकी मुलाकात आ रही है। उस दिन वह अच्छी तरह नहाता, बदन पर खूब साबुन घिसता और सिर में तेल लगाकर कंघा करता। अपने कपड़े जो वह कभी इस्तेमाल नहीं करता था, निकलवा के पहनता और यूं सज-बन कर मिलने वालों के पास आता। वो उससे कुछ पूछते तो वह खामोश रहता या कभी-कभार 'ओपड़ी गुड़गुड़ दी एन्क्स दी वेध्याना विमन्ग दी वाल आफ दी लालटेन ' कह देता। उसकी एक लड़की थी जो हर महीने एक उंगली बढ़ती-बढ़ती पन्द्रह बरसों में जवान हो गयी थी।

बिशन सिंह उसको पहचानता ही नहीं था। वह बच्ची थी जब भी आपने बाप को देखकर रोती थी, जवान हुई तब भी उसकी आंख में आंसू बहते थे।पाकिस्तान और हिन्दुस्तान का किस्सा शुरू हुआ तो उसने दूसरे पागलों से पूछना शुरू किया कि टोबा टेकसिंह कहां है। जब इत्मीनान बख्श (सन्तोषजनक) जवाब न मिला तो उसकी कुरेद दिन-ब- दिन बढ़ती गयी। अब मुलाकात नहीं आती है। पहले तो उसे अपने आप पता चल जाता था कि मिलने वाले आ रहे हैं, पर अब जैसे उसके दिल की आवाज भी बन्द हो गयी थी जो उसे उनकी आमद की खबर दे दिया करती थी।

उसकी बड़ी ख्वाहिश थी कि वो लोग आयें जो उससे हमदर्दी का इजहार करते थे ओर उसके लिए फल, मिठाइयां और कपड़े लाते थे। वो उनसे अगर पूछता कि टोबा टेकसिंह कहां है तो यकीनन वो उसे बता देते कि पाकिस्तान में है या हिन्दुस्तान में, क्योंकि उसका ख्याल था कि वो टोबा टेकसिंह ही से आते हैं जहां उसकी जमीनें हैं।

पागलखाने में एक पागल ऐसा भी था जो खुद को खुदा कहता था। उससे जब एक दिन बिशन सिंह ने पूछा कि टोबा टेकसिंह पाकिस्तान में है या हिन्दुस्तान में तो उसने हस्बेआदत (आदत के अनुसार) कहकहा लगाया और कहा--

-- वो न पाकिस्तान में है न हिन्दुस्तान में, इसलिए कि हमने अभी तक हुक्म नहीं लगाया।

बिशन सिंह ने इस खुदा से कई मरतबा बड़ी मिन्नत समाजत से कहा कि वो हुक्म दे दे ताकि झंझट खत्म हो, मगर वो बहुत मसरूफ था, इसलिए कि उसे ओर बेशुमार हुक्म देने थे। एक दिन तंग आकर वह उस पर बरस पड़ा, 'ओपड़ी गुड़गुड़ दी एन्क्स दी बेध्याना विमन्ग दी वाल आफ वाहे गुरूजी दा खलसा एन्ड वाहे गुरूजी की फतह। जो बोले सो निहाल सत सिरी अकाल।' उसका शायद यह मतलब था कि तुम मुसलमान के खुदा हो, सिखों के खुदा होते तो जरूर मेरी सुनते। तबादले से कुछ दिन पहले टोबा टेकसिंह का एक मुसलमान दोस्त मुलाकात के लिए आया। पहले वह कभी नहीं आया था। जब बिशन सिंह ने उसे देखा तो एक तरफ हट गया और वापस आने लगा मगर सिपाहियों ने उसे रोका-- -- ये तुमसे मिलने आया है - तुम्हारा दोस्त फजलदीन है।

बिशन सिंह ने फजलदीन को देखा और कुछ बड़बड़ाने लगा। फजलदीन ने आगे बढ़कर उसके कंधे पर हाथ रखा।

-- मैं बहुत दिनों से सोच रहा था कि तुमसे मिलूं लेकिन फुर्सत ही न मिली। तुम्हारे सब आदमी खैरियत से चले गये थे मुझसे जितनी मदद हो सकी मैने की। तुम्हारी बेटी रूप कौर...। वह कुछ कहते कहते रूक गया । बिशन सिंह कुछ याद करने लगा --

-- बेटी रूप कौर ।

फजलदीन ने रूक कर कहा-

-- हां वह भी ठीक ठाक है। उनके साथ ही चली गयी थी।

बिशन सिंह खामोश रहा। फजलदीन ने कहना शुरू किया-

-- उन्होंने मुझसे कहा था कि तुम्हारी खैर-खैरियत पूछता रहूं। अब मैंने सुना है कि तुम हिन्दुस्तान जा रहे हो। भाई बलबीर सिंह और भाई बिधावा सिंह से सलाम कहना-- और बहन अमृत कौर से भी। भाई बलबीर से कहना फजलदीन राजी-खुशी है। वो भूरी भैंसे जो वो छोड़ गये थे उनमें से एक ने कट्टा दिया है दूसरी के कट्टी हुई थी पर वो छ:

दिन की हो के मर गयी और और मेरे लायक जो खिदमत हो कहना, मै। हर वक्त तैयार हूं और ये तुम्हारे लिए थोड़े से मरून्डे लाया हूं।

बिशन सिंह ने मरून्डे की पोटली लेकर पास खड़े सिपाही के हवाले कर दी और फजलदीन से पूछा- -- टोबा टेकसिंह कहां है?

--टोबा टेकसिंह... उसने कद्रे हैरत से कहा-- कहां है! वहीं है, जहां था।

बिशन सिंह ने पूछा-- पाकिस्तान में या हिन्दुस्तान में?

--हिन्दुस्तान में...। नहीं-नहीं पाकिस्तान में...।

फजलदीन बौखला-सा गया। बिशन सिंह बड़बड़ाता हुआ चला गया-- ओपड़ी गुड़गुड़ दी एन्क्स दी बेध्याना विमन्ग दी वाल आफ दी पाकिस्तान एन्ड हिन्दुस्तान आफ दी हए फिटे मुंह।

तबादले की तैयारियां मुकम्मल हो चुकी थीं। इधर से उधर और उधर से इधर आने वाले पागलों की फेहरिस्तें (सूचियां) पहुंच गयी थीं, तबादले का दिन भी मुकर्रर हो गया था। सख्त सर्दियां थीं। जब लाहौर के पागलखाने से हिन्दू-सिख पागलों से भरी हुई लारियां पुलिस के मुहाफिज दस्ते के साथ् रवाना हुई तो मुतअल्लिका (संबंधित) अफसर भी हमराह थे। वाहगा के बार्डर पर तरफैन के (दोनों तरफ से) सुपरिटेंडेंट एक दूसरे से मिले और इब्तेदाई कार्रवाई खत्म होने के बाद तबादला शुरू हो गया जो रात भर जारी रहा।

पागलों को लारियों से निकालना और उनको दूसरे अफसरों के हवाले करना बड़ा कठिन काम था। बाज तो बाहर निकलते ही नहीं थे। जो निकलने पर रजामन्द होते थे, उनको संभालना मुश्किल हो जाता था क्योंकि इधर-उधर भाग उठते थे। जो नंगे थे उनको कपड़े पहनाये जाते, तो वो फाड़कर अपने तन से जुदा कर देते क़ोई गालियां बक रहा है, कोई गा रहा है। आपस में लड़-झगड़ रहे हैं, रो रहे हैं, बक रहे हैं। कान पड़ी आवाज सुनायी नही देती थी-- पागल औरतों का शेरोगोगा अलग था और सर्दी इतने कड़ाके की थी कि दांत बज रहे थे।

पागलों की अकसरियत इस तबादले के हक में नहीं थी। इसलिए कि उनकी समझ में आता था कि उन्हें अपनी जगह से उखाड़कर कहां फेंका जा रहा है। चन्द जो कुछ सोच रहे थे-- 'पाकिस्तान जिन्दाबाद' के नारे लगा रहे थे। दो-तीन मरतबा फसाद होते-होते बचा, क्योंकि बाज मुसलमान और सिखों को ये नारे सुनकर तैश आ गया।

जब बिशन सिंह की बारी आयी ओर वाहगा के उस पार मुतअल्लका अफसर उसका नाम रजिस्टर में दर्ज करने लगा तो उसने पूछा-- टोबा टेकसिंह कहां है? पाकिस्तान में या हिन्दुस्तान में? -मुतअल्लका अफसर हंसा-- पाकिस्तान में।

यह सुनकर विशनसिंह उछलकर एक तरफ हटा और दौड़कर अपने बाकी मांदा साथियों के पास पहुंच गया। पाकिस्तानी सिपाहियों ने उसे पकड़ लिया और दूसरी तरफ ले जाने लगे। मगर उसने चलने से इन्कार कर दिया, और जोर-जोर से चिल्लाने लगा--टोबा टेकसिंह कहां है ओपड़ी गुड़गुड़ दी एन्क्स दी बेध्याना विमन्ग दी वाल आफ दी टोबा टेकसिंह एन्ड पाकिस्तान।

उसे बहुत समझाया गया कि देखों अब टोबा टेकसिंह हिन्दुस्तान में चला गया है। अगर नहीं गया तो उसे फौरन वहां भेज दिया जायगा। मगर वो न माना। जब उसको जबरदस्ती दूसरी तरफ ले जाने की कोशिश की गयी तो वह दरम्यान में एक जगह इस अन्दाज में अपनी सूजी हुई टांगों पर खड़ा हो गया जैसे अब उसे वहां से कोई ताकत नहीं हटा सकेगी।

आदमी चूंकि बेजरर था इसलिए उससे मजीद जबरदस्ती न की गयी। उसको वहीं खड़ा रहने दिया गया और बाकी काम होता रहा। सूरज निकलने से पहले साकित व साकिन (शान्त) बिशनसिंह हलक से एक फलक शगाफ (आसमान को फाड़ देने वाली) चीख निकली -- इधर-उधर से कई अफसर दौड़ आये और देखा कि वो आदमी जो पन्द्रह बरस तक दिन-रात अपनी टांगों पर खड़ा रहा, औंधे मुंह लेटा था। उधर खारदार तारों के पीछे हिन्दुस्तान था-- इधर वैसे ही तारों के पीछे पाकिस्तान। दरमियान में जमीन के इस टुकड़े पर, जिसका कोई नाम नहीं था, टोबा टेकसिंह पड़ा था।

****

शिक्षा संवाद
2024, 11(1): 37-52
ISSN: 2348-5558
©2024, संपादक, शिक्षा संवाद, नई दिल्ली

आलेख

दलितो के विद्यालयी अनुभव और उनके शैक्षिक निहितार्थ

डॉ. कमल
सहायक आचार्य
मिराण्डा हाउस
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सार

विद्यालय एक सामाजिक संस्था है, अतएव उस समाज की सामाजिक मान्यताएँ एवं व्यवहार उस विद्यालय की प्रत्येक गतिविधि में परिलक्षित होते हैं। भारतीय समाज की जातीय व्यवस्था एवं इससे जुड व्यवहार विद्यालय के प्रांगण में स्पष्टतः दृष्टिगोचर हाते हैं। उपरोक्त विद्यालयी अनुभवों के माध्यम से यह समझा जा सकता है कि विद्यालय एवं इसकी प्रत्येक गतिविधि दलितों के समावेशन के विरूद्ध है। विद्यालयी जीवन दलितों के अन्तरमन में एक ऐसी हीन भावना को पोषित करता है जो जीवन भर उसे मानसिक रूप से स्वयं में हीन बनाए रखती है। कक्षा में चुपचाप पीछे वाले बेंच पर जाकर बैठना उसके द्वारा उन अवमाननाओं को आत्मसात करने का उदाहरण है।

कूटशब्द *:विद्यालय, समाज, अनुभव, दलित, शिक्षा, समावेशन।*

'अनुभव' व्यक्ति के जीवन क एक अमिट विस्मरणीय हिस्स होतें हैं, जो उसकी सामाजिक परिस्थितियों व सम्बन्धों को समझने में सहायता करत ह। अनुभव जीवन की लगातार प्रवाहमान गतिविधियां से सामाजिक संरचना में आकार प्राप्त करते हैं। अनुभव व्यक्ति के जीवन में घटने वाली घटनाओं में निहित सामाजिक सम्बन्धों, मान्यताओं को व्याख्यायित करतं है। इस प्रकार हम कह सकत हैं कि 'अनुभव' सामाजिक यर्थाथ की निर्मिति है, चूंकि एक मनुष्य के जीवन में घटने वाली घटनाएँ उस समाज के यर्थाथ को प्रदर्शित करती हैं। इसी कड़ी में मैं अपने एक विद्यालयी अनुभव को साझा कर रहा हूँ। यह घटना मेरे विद्यालय की है। जब मैं छठी कक्षा का विद्यार्थी था। मेरे गाँव के सभी विद्यार्थी जो कि

विभिन्न जातियों से सम्बन्ध रखते थे, मेरी कक्षा में मेरे साथ पढ़ते थे। एक दिन हमारी कक्षा में हमारे खेल अध्यापक आए और बारी-बारी से हमारा परिचय पूछने लगे। सभी ने बारी-बारी उनको अपना नाम बताया, जैसे कुलदीप शर्मा, (परिवर्तित नाम), अजय गुप्ता (परिवर्तित नाम) इत्यादि।

मेरी बारी आने पर मैने अपना नाम उन्हें बताया। इस पर उन्होंने पूछा आगे? मुझे समझ नहीं आया, आगे क्या? अगला सवाल उन्होंने मुझसे पूछा, कौन सी जाति है-तेरी? तब मैने कहा, अनुसूचित जाति। चूँकि अभी तक जाति के कांलम में अनुसूचित जाति लिखते थे, इसी कारण मैंने कहा, अनुसूचित जाति। इसके पश्चात् उनका व्यवहार मेरी तरफ बदल गया। वह मेरे दोस्तों को गुप्ता जी, पंडित जी कहकर सम्बोधित करते। इसके साथ-साथ गलती न होने पर भी वह मुझे डाँटते और पिटाई भी कर देते। जबकि मेरे अन्य सहपाठियों को कुछ नहीं कहते, कभी-कभी वह मुझे कहते, कि तुम पढ़ लिख कर क्या करोगे ! करना तो वो ही है जो तुम्हारे पूर्वज करते रहे है। उस समय इस अवमानना अथवा प्रताडना का कारण मुझे समझ में नही आया, अपित इतना जरूर समझ में आया कि कुछ आधार हं जो कि इस विभेदन का कारण है। धीरे-धीरे आगे उम्र के साथ समझ में आया कि इसका कारण 'जाति' है, जिसकी वजह से विद्यालय में अवमानना सहनी पड़ती थी। इन घटनाओं की पुनरावृत्ति विद्यालय एवं समाज में कई बार और कई रूपों में जारी रही। इसी प्रताड़ना और अवमानना के फलीभूत इस विषय का चयन किया गया है और यह समझने का प्रयास किया है कि इस अवमानना का कारण जाति है तो यह 'जाति' क्या है?

अंग्रेजी भाषा का शब्द 'caste' स्पेनिश शब्द 'casta' से लिया गया है। 'काष्टा' शब्द का अर्थ है नस्ल, प्रजाति अथवा आनुवांशिक तत्त्वों या गुणों का संग्रह। पुर्तगालियों ने इस शब्द का प्रयोग भारत के उस संरचना के लिए किया, जिसे जाति के नाम से पुकारा जाता है। इसका उदगम ऋग्देव के पुरूषसूक्त के अनुसार वर्ण व्यवस्था है जिसमें समाज को एक पदानुक्रम में विभाजित किया गया है। जिसमें समाज को चार वर्गों में विभाजित किया गया है- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ब्राह्मण, ब्रह्मा के मुख से, क्षत्रिय ब्रह्मा की भुजाओं से, वैश्य उदर से और शूद्रों को ब्रह्मा के पैरों से उत्पन्न माना गया है। (इन्द्रदेवा: 1999) इसी तथ्य की पुष्टि जगजीवन राम के विचारों में भी मिलती है। वह वर्णव्यवस्था की शुरूआत आर्यों के भारत में आक्रमण के साथ देखते हैं। उन्होंने आर्य संस्कृति को तीन भागों में विभाजित किया पुरोहित, योद्धा और कारीगर। भारत विजय के उपरान्त उन्होंने (आर्यों) यहाँ के मूल निवासियों को दास की श्रेणी में रखा और भारतीय समाज को चत्वणीय बना दिया और शुद्रों को मजबूरन सेवा कर्म के लिए आबद्ध किया। (जगजीवन राम 1996) इसी क्रम में डॉ० भीम राव अम्बेडकर ने एक ओर वर्ग को जोड़ा, जो सामाजिक संरचना के सबसे निचले पायदान पर था, जिसे अछूत माना जाता था। लीच के अनुसार "जाति ब्राह्मणों द्वारा बनाई गई शोषणकारी सामाजिक संस्था है। यह अर्थ को नियंत्रित करने हेतु कामगारों का आर्थिक विभाजन है।" (शर्मा : 2013) इसी प्रकार डयूमोन्ट ने भी भारतीय समाज में जाति के आधार पर

वर्ग विभाजन को स्वीकारा है और अछूतों को अशुद्ध अथवा अपवित्र करार देकर बहिष्कार/विभेदीकरण करने का आधार वर्णव्यवस्था को ही बताया है। (दीपांकर गुप्ता : 114) इसी प्रकार श्रीनिवास ने भारतीय समाज को जातीय समाज बताया है, जिसमें कर्म का विभाजन 'जाति' आधारित है। (श्रीनिवास : 1995) इन्हीं अछूतों/हरिजनों/अनुसूचित जाति को आज दलित कहकर सम्बोधित किया जाता है। 'दलित' शब्द जो कि संस्कृत के 'दल' शब्द से बना है जिसका अर्थ है, दबा-कुचला, विखण्डित। इसी प्रकार आक्सर्फोर्ड संस्कृत अंग्रेजी डिक्सनरी के अनुसार 'दलित' शब्द 'दल' का विशेषण है, जिसका अर्थ है टूटा हुआ, विखण्डित, विभेदित, दमित आदि। इसी प्रकार अंग्रेजी में 'दल' का अर्थ है 'कटा हुआ'। हिब्रू (Hebrew) में भी 'दल' का अर्थ कमजोर और गरीब होता है। इस प्रकार 'दलित' शब्द एक वर्ग को पतिबिम्बित करता है जो दमित, शोषित, कमजोर होता है। (सदांगी: 2008) भारत में यह शब्द अनुसूचित जाति अथवा अस्पर्श जातियों के लिए प्रयुक्त किया जाता है जिनका अछूत मानकर सदियों तक भेदभावपूर्ण, अमानवीय जीवन जीने हेतु हिन्दूवादी व्यवस्था ने मजबूर किया था।

इस प्रकार हम भारतीय समाज की संरचना को जातीय संरचना मान सकते हैं। जिस प्रकार 'जाति' भारतीय समाज की संस्था है, उसी प्रकार 'शिक्षा' भी भारतीय समाज की संस्था है, जिसका एक भाग विद्यालय भी है। जांन डिवी (1998) के अनुसार "विद्यालय समाज का एक लघुरूप है"। अतएव विद्यालय के भीतर सम्बन्धों का निर्धारण सामाजिक मान्यताओं, मूल्यों व सामाजिक संरचना के अनुसार होता है। इसी के साथ-साथ उन्होंने शिक्षा को समाज के विकास का मूलाधार माना है, चूंकि शिक्षा ही समाज को मानव संसाधन उपलब्ध करवाती है, जो किसी भी समाज अथवा राष्ट्र के विकास में अहम भूमिका निभाती है (डिवी 1998)। शिक्षा से यह उम्मीद की जा सकती है कि वह सभी विद्यार्थियों के व्यक्तित्व के सवतोन्मुखी विकास की व्यवस्था करे, जो इसम प्रवेश लेते हैं। शिक्षा से यह अपेक्षा भी की जाती है कि वह समाज के विकासात्मक उद्देश्यों को पूरा करे (दुबेः 2000)।

इस प्रकार शिक्षा व्यवस्था से यह आशा की जाती है कि वह समाज के विकास का मूल आधार बनेगी एवं समाज के प्रत्येक व्यक्ति के विकास का साधन बनेगी। शिक्षा से जुड़ी इन अभिलाषाओं को दलितों के सन्दर्भ में समझने और विद्यालयी परिवेश में जातीय सम्बन्धों के प्रभाव को समझने का इस पर्चे में प्रयास किया गया है। इस प्रयास की प्रतिपूर्ति हेतु जीवनिया/आत्मकथाओं व स्वंयभू अनुभवों को आकड़ों के रूप में प्रयुक्त किया गया है। जीवनियों/आत्मकथाओं के माध्यम से 1975 के पूर्व के विद्यालयी अनुभवों को साहित्य समीक्षा हेतु प्रयोग करते हुए और 1975 के पश्चात् के विद्यालयी अनुभवों को साक्षात्कार के माध्यम से आकड़ों के रूप में संकलन किया गया है। साक्षात्कार से संकलित आकड़ों को दो आयु वर्गों के मध्य विभाजित किया गया, जिसमें 25-40 वर्ष व 10-20 वर्ष के व्यक्तियों

का साक्षात्कार किया गया। इन्हें दो श्रेणी वर्गों में दलित प्रतिभागी विद्यालयी विद्यार्थी और दलित प्रतिभागी गैर विद्यालयी विद्यार्थी में विभाजित किया गया है। दोनों प्रकार की श्रेणियों से पाँच-पाँच सदस्यों का असंरचित साक्षात्कार लिया गया, जिसमें उनके विद्यालयी व सामाजिक अनुभवों का समझने का प्रयास किया गया। साक्षात्कार से प्राप्त आकड़ों को साहित्य समीक्षा के द्वारा उभरे विभिन्न बिन्दुओं के सापेक्ष आलोचनात्मक विश्लेषण किया गया है।

आत्मकथाओं/जीवनियों से प्राप्त अनुभव

जीवनियाँ/आत्मकथाएँ सामाजिक परिघटनाओं को उनके समय काल में समझने का एक महत्वपूर्ण माध्यम है। इसीलिए हिचमैन व हिचमैन (1997) ने कहा है कि "आत्मकथाएँ हमें एक ऐसा विमर्श प्रदान करती है जहाँ पर हम एक समयकाल में घटी घटनाओं को उनके सामाजिक सम्बन्धों के साथ जोड़कर सामाजिक यर्थाथ को समझ सकते हां।" इसी प्रकार साइक्स (2001) के शब्दों में "आत्मकथाएँ सामाजिक घटनाओं और परिघटनाओं को समयकाल में समझने का अवसर व प्रमाण उपलब्ध कराती है।" इस प्रकार आत्मकथाएँ/जीवनियाँ उस समाज की निर्मित्ति है एवं समाज की ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और आर्थिक राजनीतिक संरचना और उनके सम्बन्धों को समझने का साधन बनती है। इसी प्ररिप्रेक्ष्य में दलितों के सामाजिक यथाथ को समझने के लिए विभिन्न दलित आत्मकथाओं/जीवनियां के कुछ अंश उद्देश्य अनुरूप निम्नवत् है:-

भीमराव जी अम्बेडकर के विद्यालयी जीवन व अनुभवों के कुछ अंश/प्रसंग निम्नवत् है:-

"सूबेदार राम जी मालोजी (अम्बेडकर के पिता) बच्चों की शिक्षा के प्रति बहुत चिंतित थे। इसलिए सवारा पहुंचकर सबसे पहले उन्होंने बच्चों को स्कूल में प्रवेश दिलाने का प्रयत्न किया। उस समय बालक भीम राव पाँच साल क हो चुके थे। जाति-पाति और छुआछत की भावना का बालबाला था, जिसके कारण सतारा स्कूल में उनको प्रवेश नहीं दिया गया लेकिन बाद में एक अंगज अधिकारी को सहायता से सतारा स्कूल में तीनों का नाम लिखा दिया गया" (लाल: 2009)। "सतारा स्कूल मराठी प्राइमरी स्कूल था। अछत समाज में उत्पन्न होने के नाते बालक भीमराव वहाँ पर सवर्ण परिवारों के बालकों की भाँति स्वयं लोटा उठाकर या टोटी खोलकर पानी नहीं पी सकते थे। इसके लिए इन्हें दूसरों की प्रतोक्षा करनी पड़ती थी। कभी-कभी तो घर से पानी पीकर जाते थे और वापस आकर घर में ही पानी पीने को मिलता था (लाल: 2009)। "जाति-पाति के कारण उन्हें सब लड़कों से अलग बैठना पड़ता था अपनी टाट-पट्टी साथ लाना, ले जाना पड़ता था" (लाल: 2009)। एक दिन जब विद्यार्थी भीमराव को तेज प्यास लगी, उन्होनें चपरासी तथा अन्य लड़कों को पानी पिलाने के लिए कहा। लेकिन किसी ने उन्हें

पानी नहीं पिलाया। बालक भीमराव के धैर्य का बाँध टूट गया। स्वयं लोटा उठाया और पानी पिया। कुछ ही क्षणों में स्कूल में हाहाकार मच गया। चारों ओर से आवाजें आने लगीं, "भीमराव ने लोटा, बाल्टी अपवित्र कर दिया।" चपरासी और लड़के मारने के लिए दौड़े" (लाल : 2009)। "सूबेदार मेजर राम जी ने सतारा में बच्चों की शिक्षा का कोई उज्ज्वल भविष्य नहीं देखा। अतः 1905 ई. में वे बम्बई चले गए और लोअर परेड डबल चार मोहल्ले में रहने लगे। मराठा हाई स्कूल में बालक भीमराव को भर्ती कराया लेकिन कुछ ही समय बाद उनका प्रवेश एलफिंस्टन हाई स्कूल में करा दिया गया। इस स्कूल में भी भीमराव को अन्य विद्यार्थियों जैसा सम्मान नहीं मिल सका। अब भी उन्हें कक्षा के लड़कों से अलग ही बैठना पड़ता था (लाल : 2009)। "एलफिस्टन हाई स्कूल यद्यपि सरकारी स्कूल या परन्तु जाति-पाति मानने वाले अध्यापकों की भी कभी न थी। एक ब्राह्मण अध्यापक बात-बात में भीमराव की जाति का नाम लेकर उन्हें अपमानित करता था। एक दिन वे बोले, 'अरे तू तो महार है। तू पढ़-लिखकर क्या करेगा। अपमान की चोट से भीमराव तिलमिला उठे और इस प्रकार साहसपूर्ण उत्तर दिया, 'सर, मैं पढ़ लिखकर क्या करूँगा, यह पूछने का काम आपका नहीं है" (लाल: 2009)। "हाई स्कूल में भीमराव तथा इनके भाई आनन्द राव संस्कृत विषय लेना चाहते थे लेकिन अछूत जाति में जन्म लेने के कारण संकीर्ण विचार के दकियानूसी ब्राह्मण अध्यापक ने उन्हें संस्कृत नहीं पढ़ने दी। बाध्य होकर दूसरी भाषा के रूप में उन्हें फारसी पढ़नी पड़ी" (लाल: 2009)।

इसी प्रकार ओम प्रकाश वाल्मीकि के विद्यालयी अनुभव उनकी आत्मकथा 'झूठन' के अनुसार'..... पिताजी मुझे लेकर बेसिक प्राइमरी विद्यालय गए थे, जो कक्षा पांच तक था। वहाँ मास्टर हरफूल थे। उनके सामने मेरे पिताजी ने गिड़गिड़ाकर कहा था। "मास्टर जी, थारी मेहरबानी होगी, जो तुम म्हारे जातक कू बी दो अक्षर सिखा दोगे।" कई दिनों के चक्कर काटने के बाद स्कूल में दाखिला मिला। उन दिनों देश को आजादी मिले आठ साल हो गए थे, लेकिन जनसामान्य की मानसिकता में कोई बदलाव नहीं आया था। स्कूल में दूसरों से दूर बैठना पड़ता था, वह भी जमीन पर। अपने बैठने की जमीन तक आते-आते चटाई छोटी पड़ जाती थी। कभी-कभी तो एक दम पीछे दरवाजे के पास बैठना पड़ता था। जहाँ से बोर्ड पर लिखे अक्षर और धुंधले दिखते थे।

" त्यागियों (उच्च जाति) के बच्चे 'चहडे का' कहकर चिढ़ाते थे। कभी-कभी बिना करण पिटाई भी कर देते थे। एक अजीब सी यातनापूर्ण जिंदगी थी, जिसने मुझे अन्तमुखी और चिडचिडा, तुनकमिजाजी बना दिया था।

".....स्कूल में प्यास लगे तो हैंडपम्प के पास खड़े रहकर किसी के आने का इंतजार करना पड़ता था। हैंडपम्प छूने पर बवाल हो जाता था। लड़के तो पीटते ही थे मास्टर भी छूने पर पिटाई करते थे। तरह-तरह

के हथकड़े अपनाए जाते थे ताकि मैं स्कूल छोड़कर भाग जाऊँ, और मैं उन्हीं कामों में लग जाऊ, जिनके लिए मेरा जन्म हुआ था।

" .....साफ सुथरे कपड़े पहन कर जाओ तो साथी लड़के कहते, अबे चूहड़े का नए कपड़े पहनकर आया है। मैले पुराने कपड़े पहनकर स्कूल जाओ तो कहते, अबे चूहड़े के दूर हट बदबू आ रही है।"

".....जब हम चौथी कक्षा में थे, हेडमास्टर बिशम्बर सिंह की जगह कली राम आ गए थे। उनके साथ एक और मास्टर आए थे। एक रोज हेडमास्टर ने अपने कमरे में बुलाकर पूछा "क्या नाम है ब तेरा?" ओमप्रकाश! मैने उत्तर दिया धीरे-धीरे, डरते-डरते स्वर में। हेडमास्टर को देखते ही बच्चे सहम जाते थे। पूरे स्कूल में उनकी दहशत थी।"

".. ..... चूहडे का है? हेडमास्टर का दूसरा सवाल उछला। 'जी'। ठीक है..... वह जो सामने शीशम का पेड़ खड़ा है, उस पर चढ़ जा और टहनियां तोड़के झाड़ू बना ले और पूरे स्कूल को ऐसा चमका दें जैसे सीसा। तेरा तो यो खानदानी काम है। जा.... फटाफट लग जा काम पे। हेडमास्टर के आदेश पर मैंने स्कूल के कमरे, बरामदे साफ कर दिए। तभी वह खुद चलकर आए और बोले, इसके बाद मैदान भी साफ कर दे। लम्बा चौड़ा मैदान मेरे वजूद से कई गुणा बड़ा था, जिसे साफ करने से मेरी कमर दर्द कर रही थी। मेरी कक्षा के बाकी बच्चे पढ़ रहे थे और मैं झाड़ू लगा रहा था। पानी पीने तक की ईजाजत नहीं थी।"

".....दूसरे दिन स्कूल पहुँचा जाते ही हेडमास्टर ने फिर झाड़ू के काम पर लगा दिया। पूरे दिन झाड़ू देता रहा। तीसरे दिन मैं कक्षा में जाकर चुपचाप बैठ गया। थोड़ी देर बाद उनकी दहाड़ (प्रिंसिपल की) सुनाई पड़ी "अबे ओ चूहड़े के मादर चोद कहां घुस गया..... अपनी मा....। हेडमास्टर ने लपककर मेरी गर्दन दबोच ली थी। उनकी उंगलियों का दबाव मेरी गर्दन पर बढ़ रहा था। कक्षा से खींचकर उन्होंने मुझे बरामदे में ला पटका और चीखकर बोले, जा लगा पूरे मैदान में झाड़ू.....। स्कूल के कमरों की खिड़की, दरवाजों से मास्टरों और लड़कों की आँखे छिपकर तमाशा देख रही थी। मेरा रोम-रोम यातना की खाई में लगातार गिर रहा था।"

इसी प्रकार कांचा इलय्या के अनुसार-

".....विद्यालय के अध्यापक का हमारे (दलितों) प्रति रवैया उनकी जातीय पृष्ठभूमि पर निर्भर था। अगर वह ब्राह्मण होता तो हमसे घृणा करता। वह हमारे सामने ही हमसे कहता, कि कलयुग या बुरे समय का ही असर है कि उसे हमारे जैसे शूद्रों को पढ़ाने के लिए मजबूर किया जा रहा है..... लेकिन आजादी मिलन के बाद जब विद्यालय हमारे लिए खोल दिए गए, तब वहाँ विद्यालय के अध्यापक हमारे खिलाफ थे। पाठ्यपुस्तकों की भाषा हमारे खिलाफ थी। हमारे घरों में जो संस्कृति थी वह हमारे विद्यालयों में नहीं थी (इलय्या : 2003)।

इसी प्रकार रामचन्दन ने अपने अध्ययन में सावित्री के प्रसंग को इन शब्दों में व्यक्त किया है-

"सावित्री..... मैं जैसे ही कक्षा में घुसती, अन्य बच्चे मुँह बनाते। वे गाना गाने लगते, भंगी आई है, भंगी आई है। गाने के बोल वीभत्स एवं अपमानजनक होते है। विद्यालय में सावित्री के प्रविष्ट होते ही बच्चे उसे देखकर उसकी नकल करने लगते, बच्चे मैला ढोने की प्रक्रिया की नकल करते थे।" (शर्मा: 2014)

इसी प्रकार कौशल पंवार (2013) के अनुसार-

".....मेरे पिताजी ने हमेशा यह कहा कि खूब पढ़ो। इस प्रक्रिया का पूरा का पूरा सफर बहुत सारी असुविधाओं, उत्पीड़न से जूझते हुए पूरा हुआ। मुझे आज भी याद है, मैं हरियाणा के सरकारी स्कूल में पढ़ती थी। वहाँ पर एक मटका पानी भर के रखा जाता था, सभी उससे पानी पीते लेकिन वाल्मीकि समुदाय का होने के कारण मुझे उससे पानी पीने नहीं दिया जाता था। इसका कारण यह भी था कि हम उनके घरों में झाड़ू लगाते, मैला उठाने वाला काम करते थे।"

".....मुझे आज भी याद है हमारे यहाँ स्कूल में वर्दी पहनने के लिए दी जाती थी। गुलाबी कमीज और सफेद सलवार और सफेद दुप्पट्टा हमारे विद्यालय की वर्दी थी। लेकिन हमें विद्यालय में नील फीक रंग की वर्दी मिलती थी ताकि हम दूर से पहचाने जा सकें कि हम दलित समुदाय के विद्यार्थी है। मुझे जब वर्दी का कपड़ा मिला तो मैंने मास्टर जी से पूछा कि हमें भी सफेद कपड़ा दे दीजिए? इस पर मास्टर जी ने तुरन्त खराब शब्दों में कहा अच्छा! अब तेरे से पूछ कर देना पड़ेगा।"

"..... एक बार की बात है, जिसे मैं बहुत मुश्किल से बयाँ कर पाती हूँ। पानी की एक बार बहुत प्यास लगी, तो हम पानी पीने के लिए स्कूल के पास बने ब्राह्मणों के घरों के यहाँ नलके पर पानी पीने चले गए। सभी ने बारी-बारी पानी पिया। लेकिन जब मेरी बारी आई तो ब्राह्मणों ने तीखे स्वर में कहा "चूहडे-चमारो के, तुम यहाँ क्या कर रहे हो! भागो यहाँ से। हमारा नलका खारा पानी देना शुरू कर देगा। तब मुझे लगा कि कुछ है जो हमसे दूसरो को अलग करता है। मैंने अपने चाचा से पूछा कि ऐसा क्यों है? तो उन्होंने बताया कि बेटा यो टोल है जो सदियों से यूँ ही चली आ रही है। मैंने पूछा कि यह किसने बनाई ? उन्होंने कहा, पता नहीं, तुम ही पता करना। इन शब्दों ने मेरे लिए आगे बढ़ने की प्रेरणा का काम किया और शिक्षा की तरफ रुझान और बढ़ा।"

".....मुझे आज भी याद है कि मैं अपने स्कूल क दिनों में अपनी ताई के साथ, मैला उठाने जाया करती थी। एक दिन मैं अपनी ताई के साथ, मेरी सहपाठिन के घर चली गई। उस समय हमारे घर गांव के बाहर हुआ करते थे। मेरी सहपाठी ने मुझे वहाँ पर मैला उठाते देख लिया था। अगले दिन मैं स्कूल पहुँची, मुझसे पहले ही सारी घटना स्कूल पहुँच चुकी थी। जैसे ही मैं कक्षा में पहुँची सभी लड़कियो ने मुझे घेरना शुरू कर दिया। फिर उस लड़की ने पूछा (जिसके घर में मैं गई थी) तू सिर्फ टोकरी उठा रही थी या डाल भी रही थी। हमारे घर शौच को? मुझे गुस्सा आया तो मैंने उसे तख्ती मारी। (कमर पर) और फिर उसने भी मेरे सिर पर तख्ती मारी, (माथे पर) जिसका मुझे आज भी निशान है, लेकिन असली जख्म तो अन्दर था, जिसका दर्द बहुत अधिक था।"

उपरोक्त अनुभवों से हम यह समझ पाते है कि दलितों के लिए विद्यालय समाज का वही प्रतिरूप था जहाँ पर जातीय भेदभाव के कारण अवमाननाओं, प्रताड़नाओं को विद्यालय के प्रत्येक प्रहर में सहना पड़ता था। इन सभी प्रताड़नाओं का मूल इसी भारतीय जातीय व्यवस्था में निहित है जहाँ पर दलितों को अपवित्र मानकर अथवा स्थापित करक प्रताड़ित किया जाता रहा है। इसके फलस्वरूप विद्यालय में शिक्षकों, सहपाठियों का व्यवहार विभेदीकरण व शोषण, उत्पीड़न प्रदर्शित करता है। चाहे वह कक्षा के भीतर हो या बाहर हो। शिक्षकों व सहपाठियों के विभेदित कटाक्ष, पाठ्यक्रम और भाषा इनके उपेक्षित व शोषित होने का प्रमाण है।

साक्षात्कारों से प्राप्त अनुभव

पर्चे के इस भाग में साक्षात्कार से प्राप्त अनुभवों के माध्यम से पूर्व में वर्णित अनुभवों के माध्यम से परिलक्षित विभेदित कारको के सापेक्ष जातीय विभेदन का समालोचनात्मक विश्लेषण किया जाएगा।

इसमें साक्षात्कार में प्रतिभागियों को दो भागों में विभाजित किया जाएगा 1. दलित प्रतिभागी गैर विद्यालयी विद्यार्थी (द.प्र.गै.वि. वि.) 2. दलित प्रतिभागी विद्यालयी विद्यार्थी (द.प्र.वि.वि.)।

दलित प्रतिभागी-गैर विद्यालयी विद्यार्थी

शिक्षक का प्रतीकात्मक व्यवहार, जिसमें जातीय सूचकों के माध्यम से उपेक्षित भाव प्रकट होता है, जैसे-

..कक्षा के अन्दर विद्यार्थी मुझे 'नाई का' कहकर चिढ़ाते थे। यहाँ तक कि अध्यापक भी मुझ अरे 'नाई के' कहकर सम्बोधित करते थे। 'नाई के' तुझे कब अक्ल आएगी, क्या करेगा पढ़कर! जा तेरी कापी क्या चेक करे, चल बैठ जा पीछे जाकर।" (द. प्र.गै.वि.वि.-1)

इसी प्रकार सहपाठियों का व्यवहार भी विभेदित प्रतीत होता है। जब खेल के मैदान में सहपाठी चिढ़ाते थे 'नाई के' क्या करेगा खेलकर, जा कोई और काम कर।" (द.प्र.गै.वि.वि.-1)

इसके साथ-साथ कक्षा में बैठने को लेकर अम्बेडकर और ओमप्रकाश वाल्मीकि की तरह यहाँ पर भी तथ्य उभर कर स्पष्ट होता है-

".....छोटी जाति के विद्यार्थी चुपचाप जाकर कक्षा में पीछे बैठते थे चूंकि आगे वाले स्थान उच्च जाति के विद्यार्थियों द्वारा आरक्षित कर लिए जाते थे। बिना कुछ कहे व समझे मैं चुप-चाप पीछे जाकर बैठ जाता था।" (द.प्र.गै.वि.वि.-3)

कक्षा में समूहों का बनना व समूह में विभिन्न वस्तुओं का उपयोग भी जातीय रूप लिए रहता है जैसे- ".....कक्षा में मेरे साथ कोई खाना बाँटकर नहीं खाता था, मैं अकेले अपना खाना खाता था। (द.प्र.गै.वि.वि.-3) इसी प्रकार "छोटी जाति का सहपाठी मेरे साथ खाना भी नहीं खाते थे।" (द.प्र.गै.वि.वि.-2) इसी 12/22 उदा

यह प्रदर्शित करता है कि शिक्षक (उच्च जाति) दलित विद्यार्थियों से, प्रांगण की सफाई करवाते थे, जैसे मेरे विद्यालय में मैंने कई बार झाड़ू लगाई है, खासकर कक्षा में झाड़ू लगाने की जिम्मेदारी मुझे ही सौंपी जाती थी" (द.प्र.गै.वि.वि.-3)। इसके साथ-साथ उच्च जाति के शिक्षक कभी दलितों से कुछ खाने-

पीने का सामान भी नहीं मँगवाते थे। जैसे- "..... शिक्षक मुझसे कभी कोई खाने का सामान नहीं मँगवाते थे. खासकर ब्राह्मण जाति के शिक्षक हमसे कभी पानी भी नहीं मंगवाते थे।"

इस प्रकार 1975 के पश्चात् और 1990 तक के कालक्रम में दलितों के विद्यालयी अनुभवों को, इनकी उम्र के आधार पर रखा जा सकता है। इस समय काल में भी हम यह समझ सकते हैं कि जाति और उससे सम्बन्धित मूल्य समाप्त नहीं हुए, अपितु इनमें थोड़ी कमी जरूर आई है, चूंकि कुछ उदाहरण जैसे- "..... मेरे सभी सहपाठी अलग-अलग जातियों से सम्बन्धित थे। हम सभी एक साथ खेलते और सभी खाना बांटकर भी खाते थे। कक्षा में भी हम सभी साथ मिलकर बैठते थे। शिक्षकों का व्यवहार भी हमारे साथ सामान्य था कभी ऐसा लगा नहीं कि वह हमने भेदभाव करते है" (द.प्र.गै.वि.वि.-4)।

"मेरे सभी जाति के विद्यार्थियों से दोस्ती थी, चाहे वह ब्राह्मण हो अथवा बनिया। हम सभी खेलना, खाना साथ-साथ करते थे" (द.प्र.गै.वि.वि.-5)।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि जातीय मूल्य समाप्त तो नहीं हुए परन्तु इनमें बदलाव तो आया ही है। खासकर अस्पश्यता की संरचना में ढीलापन अवश्य आया है। श्रीनिवास के अनुसार "सेकुलराईजेशन (Secularisation) की प्रक्रिया के अनुरुप शुद्ध व अशुद्ध की हिन्दुवादी अवधारणा की बेडियां कमजोर हुई है।" (श्रीनिवास 1995 : 126) इसी प्रकार आंद्रे बेते (2012) के अनुसार सामाजिक जीवन में शुद्ध व अशुद्ध की अवधारणा के भेद सीमित हुए है। इसके साथ-साथ जाति के आधार पर शादी ब्याह के बन्धन क्षीण हुए है और व्यवहार में भी जातीय कठारता में परिवर्तन हुआ है। इस प्रकार जाति की संरचना में लचीलापन प्रतिबिंबित होता है। अपितु जातीय संरचना टूट गई हो, इसकी प्रतिपुष्टि नहीं की जा सकती है। जाति के प्रभावों में जो परिवर्तन दिखाई पड़ता है वह संन्द्रभगत व आधुनिकता की पहुँच के कारण है अन्यथा आज दिल्ली में जातीय अवमाननाओं का स्वरूप बदला जरूर है। परन्तु हम यह नहीं कह सकते कि जाति समाप्त हो गई है, तथापि यह भ्रमित करने वाला होगा। आधुनिकीकरण के कारण बाजार को कामगारों की तलाश रहती है, जहाँ पर फैक्टरी में वस्तुओं का उत्पादन हाथों से ही होगा। अतः बाजार की इस मांग की पूर्ति मजदूरो की पूर्ति के रूप में दलितों को शहरों की तरफ ले जाती है। फलस्वरूप समाज की जैविक संरचना में परिवर्तन दिखाई पड़ता है जो समाज को यांत्रिक समाज व्यवस्था में बदल देता है। बाजार ने जातीय मूल्यों में परिवर्तन अवश्य किया है, लेकिन उनकी सामाजिक व आर्थिक स्थिति आज भी शोचनीय है। (दुबे : 2002)

दलित प्रतिभागी- विद्यालयी विद्यार्थी

दलित विद्यालयी विद्यार्थियों के अनुभवों के आधार पर पूर्व में आए बिन्दुओं के सापेक्ष जातीय अवमाननाओं को आँकने का प्रयास यहाँ किया गया है। शिक्षकों का व्यवहार दलितों के प्रति आज भी संदिग्ध प्रतीत होता है, जब-

.....कक्षा में जब कभी दूसरे लड़के जातीय सम्बाधनों का प्रयोग करते हैं, इस पर मेरा उनसे झगड़ा होता है तो भी शिक्षक उन्हीं का ही पक्ष लेते हैं। इसके साथ-साथ गलती न होने पर ही मुझे ही डांटते हैं और कहते हैं, तुम्हें पढ़ना वढ़ना तो है नहीं, आ जाते हैं यहाँ, पता नहीं कहां-कहां से..." (द.प्र.वि.वि.-4)

विद्यालयों में दलित विद्यार्थी जातीय अवमाननाओं को सहते हैं। प्रतिकार करने भी उन्हें ही दोषी करार दिया जाता है। इस प्रकार विद्यालय सत्ता सम्बन्धों क केन्द्र प्रतीत होते हैं। जहाँ पर समाज के जातीय शक्ति सम्बन्ध विद्यालयी परिवेश में भी परिलक्षित होते हैं। शिक्षक कक्षा में मेरे प्रश्न पूछने पर जवाब नहीं देते और मझे डाँटकर अलग बैठा देते हैं" (द.प्र.वि.वि.-2)। इस वक्तव्य से स्पष्ट होता है कि कक्षा के अन्दर चलने वाली प्रक्रियाएँ भी जातीय अवमाननाओं से परिपूर्ण होती है। इस प्रकार दलित विद्यार्थी विद्यालय में होते हुए भी बर्हिवेशित हो जाते हैं। बर्हिवेशन का मूल कारण जिसे हम 'प्रदूषित' के रूप में समझते हैं, आज भी पूर्णरूप से समाप्त हो गया हो एसा नहीं है। जैसे"..... मेरे घर के नजदीक एक सरकारी स्कूल है, जिसमें मैं और मेरा दोस्त पढ़ने जाते हैं। एक दिन हमारे एक टीचर ने हमसे पानी लाने को कहा। पानी लाने से पहले उसने पूछा, कि तुम किस जाति के हो? वह अनुसूचित जाति के विद्यार्थियों से पानी नहीं मँगवाते" (द.प्र.वि.वि.-1)।

इस वक्तव्य से यह प्रतीत होता है कि जातीय विभेदन की मानसिकता पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हुई है, चाहे वह कम जरूर हो गई हो। अतः श्रीनिवास के अनुसार 'सेकुलराईजेशन' की प्रक्रिया के अनुरूप शुद्ध व अशुद्ध की हिन्दूवादी अवधारणा की बेड़ियाँ कमजोर हुई है।" (श्रीनिवास 1995 126) अपितु यह कहना कि यह समाप्त हो गई है, अतिश्योक्ति होगी। जातीय विभेदन की प्रक्रिया में एक ओर कारक आज बड़ा महत्वपूर्ण हो गया है, जिसे हम 'आरक्षण' के नाम से जानते हैं। आरक्षण व इससे जुड़े अन्य फायदे जो जातीय विभेदन की प्रक्रिया में एक ओर कारक आज बड़ा महत्वपूर्ण हो गया है, जिसे हम 'आरक्षण' के नाम से जानते हैं। आरक्षण व इससे जुड़े अन्य फायदे जो दलितों को प्राप्त होते हैं, व भी उच्च वर्ग के लिए एक पीड़ादायी कारक प्रतीत होत ह, चूंकि यह साधनों के विभाजन के सैद्धान्तिक आधार पर खड़ा हुआ है, और जब साधनों का बँटवारा हाता है तो जिसके साधन सोमित अथवा कम होते हैं, उसे दुख पहुँचना लाजमी है। विद्यालयी परिवेश में भी आरक्षण को लेकर दलितों के साथ विभेदन की प्रक्रिया देखने को

मिलती है। जैसे- ".....जब मैं आठवीं कक्षा में पढ़ती थी उस दिन मेरी कक्षा अध्यापिका सभी बच्चों से फीस ले रही थी। उस वक्त अनुसूचित जाति के विद्यार्थियों की फीस कम होती थी। उस वक्त मेरी एक सहपाठिन ने जो कि सामान्य जाति की थी, ने मुझसे कहा कि तुम जानती हो कि तुम्हारी फीस इतनी कम क्यों है? मैंने कहा क्योंकि मैं अनुसूचित जाति की हूँ। तब उसने मझसे कहा कि यह सबसे नीची जाति होती है और गरीब जाति होती है। तब मुझे बहुत बुरा लगा..... (द.प्र.वि.वि.-3)

इसी प्रकार एक ओर वक्तव्य-

"..... यह तो सरकार के जमाई बन गए है। इनको तो आरक्षण मिल जाता है और इनका दाखिला हो जाता है और नौकरियाँ भी मिल जाती है।" (द.प्र.वि.वि.-2) इसी प्रकार एक ओर प्रसंग में "..... जब हमें विद्यालय में छात्रवृत्तियाँ दी जाती है तो कक्षा के अन्य विद्यार्थी कहते हैं कि जाओ तुम्हें बुलाया जा रहा है, गरीबों को पैसा बाटा जा रहा है (द. प्र.वि.वि.-5)। इस प्रकार आरक्षण दलितों के लिए अवमानना व प्रताड़ना का एक ओर साधन बन गया है जिसने इनकी पहचान में एक ओर पैबंद जोड़ दिया है, जो जीवन-भर साथ रहने वाला प्रतीक बन गया है, जो चाहे अनचाहे अवमानना का कारण बन ही जाता है। जैसे सुकुमार (2008) के अनुसार 'आरक्षण' के तहत जगह पाए विद्यार्थियों को 'कोटा विद्यार्थी' का लेबल चिपका दिया जाता है। इस प्रकार लेबल उन्हें अपने आप हीन मानने की प्रवृत्ति में परिणत कर देता है एवं सम्पूर्ण विश्वविद्यालय परिसर में यह दैनादिन गतिविधियाँ इन्हें बर्हिवेशन की ओर धकेलती है, यहाँ तक कि आत्महत्या तक को भी मजबूर कर देती है। यद्यपि इलय्या (1990) ने आरक्षण को सकारात्मक दृष्टि से देखा है। उन्होंने इसे एक अवसर में रूप में देखा और जिसको वह दलितों को ब्राह्मणवादी व्यवस्था में आने और सामाजिक गतिशीलता का साधन मानते है। उन्हीं के अनुसार 'आरक्षण' ही है जिसके कारण समाज के उपेक्षित वर्ग के लोग भी शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं और आगे बढ़ सकते हैं, अन्यथा शिक्षा प्राप्त करना एक मृगमरीचिका ही है। अतएव उपयुक्त विवेचनात्मक विश्लेषण के आधार पर हम यह समझ सकते हैं कि विद्यालय जातीय विभेदन की संरचनाओं को कमजोर करते हुए शिक्षण अधिगम प्रक्रिया का और ज्ञान के निर्माण का केन्द्र है, अपितु इस तथ्य से भी पूर्णतः इंकार नहीं किया जा सकता है कि विद्यालयी परिवेश अभी भी जातीय प्रक्रियाओं से मुक्त हो पाया है।

शैक्षिक निहितार्थ

विद्यालय रूपी संस्था को लोकतांत्रिक वातावरण युक्त संस्था के रूप में देखा जाता है जिसमें सभी विद्यार्थियों की भागीदारी विद्यालय की प्रत्येक गतिविधियों में निर्धारित की जाती है, ताकि प्रत्येक विद्यार्थी अपनी क्षमताओं का विकास कर सके। अपितु विद्यालय को समाज का लघुरूप भी कहा जाता

है। (डिवी: 1998)। यद्यपि विद्यालय एक सामाजिक संस्था है, अतएव उस समाज की सामाजिक मान्यताएँ एवं व्यवहार उस विद्यालय की प्रत्येक गतिविधि में परिलक्षित होते हैं। भारतीय समाज की जातीय व्यवस्था एवं इससे जुड व्यवहार विद्यालय के प्रांगण में स्पष्टतः दृष्टिगोचर हाते हैं। उपरोक्त विद्यालयी अनुभवों के माध्यम से यह समझा जा सकता है कि विद्यालय एवं इसकी प्रत्येक गतिविधि दलितों के समावेशन के विरूद्ध ह। विद्यालयी जीवन दलितों के अन्तरमन में एक ऐसी हीन भावना को पोषित करता है जो जीवन भर उसे मानसिक रूप से स्वयं में हीन बनाए रखती है। कक्षा में चुपचाप पीछे वाले बेंच पर जाकर बैठना उसके द्वारा उन अवमाननाओं को आत्मसात करने का उदाहरण है। इसके साथ-साथ शिक्षकों का व्यवहार उनके (दलितों) आत्मसम्मान को उभरने का एक भी अवसर नहीं देता, जहाँ पर वह अपने आत्म को सकारात्मक उत्प्रेरण के रूप में ग्रहण कर सकें। कक्षागत गतिविधियों में सहपाठियों का व्यवहार भी उनमें हीन होने और हीन बने रहने का सूचक है। दलित होने के कारण उन्हें अनेक ऐसे प्रतीकात्मक व्यवहारों का सामना करना पड़ता है जो उनमें उपेक्षित भावना का संचरण करत है और उन्हे 'दलित' होने का आभास हर प्रहर में उनके अन्तरमन में बना रहता है। यही हीन भावना 'आत्महत्या' तक की परिणति में परिवर्तित हो जाती है। (सुकुमार: 2008) भाषा की विसंगति भी दलितों के बर्हिवेशन का एक कारक है। सुकुमार (2008) "दलितों के लिए अंग्रेजी भाषा से जूझना एक बड़ी चुनौती के समान है। शिक्षक भी उन्हीं विद्यार्थियों से चर्चा करते हैं जो अंग्रेजी भाषा में सक्षम ह। इसी प्रकार का नजरिया सहपाठियों का भी होता है। अंग्रेजी में शिक्षण पुनः हमें उपेक्षित करता है जिसकी वजह से हम पीछे जाकर बैठने लगते हैं और शिक्षण अधिगम गतिविधियों में भागीदारी नहीं कर पातें।" इसी प्रकार पाठ्यक्रम को देखें तो वहाँ पर उच्च जाति की बौद्धिकवादी विचारधाराएँ पाठ्यक्रम को अपने ज्ञान व दृष्टिकोण तक सीमित रखती ह। (रोड्रिग्स: 2003) अतः पाठ्यक्रम में केवल उच्च जातीय बौद्धिकवादी परिप्रेक्ष्य ही दृष्टिगाचर होता है। इसी की पुष्टि रेज (2006) करती हुई कहती है कि "पाठ्यक्रम में केवल उच्चजातीय विचारधारा/दृष्टिकोण ही झलकता है जो अहिन्दुओं की जाति की समझ और सांस्थानिक संरचना के माध्यम से निर्मित विभेदन को अवरुद्ध करता है। इस प्रकार पाठ्यक्रम के माध्यम से उच्च जाति अभिजनों की विचारधारा शक्ति के माध्यम से दलितों पर थोंप दी जाती है। इसी का नतीजा है कि एम.एन. श्रीनिवास और लुइस डयूमोन्ट को पाठ्यक्रम (समाजशास्त्र) का हिस्सा बनाया जाता है और अम्बेडकर को वैकल्पिक रूप में रखा जाता है (चानना: 2013)। विद्यालयी परिवेश में जारी इन्हीं अवमाननाओं, उत्पीड़नों के कारण ही इनका ड्रॉप आउट दर I-VIII कक्षा तक 59.42% है। (रिर्पोट एम.एच.आर.डी.: 2005-06) जबकि इनकी कुल जनसंख्या में मात्र I-V तक 13.41% व VI तक 9.96% ही विद्यालय में दाखिल हो पाते हैं। (ऑल इंडिया स्कूल सर्वे, एन.सी.ई.आर.टी: 2002) इस तथ्य की पुष्टि हमें नाम्बीसान (2000) के माध्यम से भी प्राप्त होती है कि विद्यालयी परिवेश दलित विद्यार्थियों के अनुकूल नहीं होता है, फलस्वरूप वह विद्यालय में समयोजित नहीं हो पाते ओर विद्यालय

छोड़ देते हं। जैसा कि हम समझते हैं कि विद्यालय सामाजिक मान्यताओं को समाहित किए रहता है समाज की रोजमर्रा के दैनादिन गतिविधियों में भी जातीय अवमाननाएं परिलक्षित होती ह।

"..... पानी की एक बार बहुत प्यास लगी। हम पानी पीने के लिए विद्यालय के पास लगे ब्राह्मणों के नलके से पानी पीने चले गए। सभी लड़कियों ने वहाँ पानी पिया, लेकिन जब मैं पानी पीने के लिए गई, तो तुरन्त ब्राह्मणी ने डाँटते हुए कहा, चूहड-चमारों के तुम यहाँ क्यों कर रहे हो, भागो यहाँ से नलका खारा पानी देना शुरू कर देगा।" (पवार : 2013) इसी प्रकार एक अन्य घटना "..... जब हमारे गाँव में सवामणी (धार्मिक अनुष्ठान) होती है तो हमें सिर्फ जूठे पत्तल उठाने का ही काम दिया जाता था।" (द.प्र.गै. वि.वि.-2) इसी प्रकार एक और घटना को देखते हैं "..... एक बार हमारी गली के सीवर खराब थे, तो सफाई कर्मचारी को बुलाया, सफाई करने हेतु। गर्मी के दिन थे, उनमें से कुछ महिलाएँ जब मेर पड़ोसी के यहाँ बाहर बैठने लगी तो उन्होंने उसे झटकते हुए कहाँ आगे जाकर बैठो (द.प्र.वि.वि.-1)।

इस प्रकार इन घटनाओं के उपरान्त हम यह समझ सकते हैं कि समाज में अभी भी जातीय विभेद व व्यवहार परिलक्षित होता हैं, तो विद्यालय में कैसे यह दृष्टिगोचर नहीं होगा। उपरोक्त तीनों घटनाओं में चाहे पानी पीने की बात, या गांव में धार्मिक अनुष्ठान में कार्य विभाजन की बात हो या दलितों को गृह प्रवेश न करने देने की घटना हो, इससे यह प्रमाणित होता है कि जाति व इसकी मान्यताएँ पूणतः नहीं बदली है। इस प्रकार विद्यालय/शिक्षा सामाजिक मान्यताओं का पोषण करने वाले ऐजेंट की भूमिका निभाते हैं। विद्यालय एक विचारधारा का पोषित करने का यंत्र मात्र है। (अल्थूसर : 2000)। इस दृष्टिकोण से समझे तो विद्यालय समाज की उस विचारधारा का मात्र वाहक है जो शक्तिशाली संस्कृति है, जिसमें दलितों को हीन माना जाता है और हीन बनाए रखने की प्रक्रिया प्रधान्यता के माध्यम से क्रियान्वित की जाती है। दूसरे इसमें हम माइकल एप्पल के माध्यम से भी समझ सकते हैं कि विद्यालय वर्चस्ववादी संस्कृति के शक्ति सम्बन्धों के अनुसार अनवरत् अपनी भूमिका से जुड़े क्रियाकलापों को क्रियान्वित करता है। दूसरे शब्दों में विद्यालय एक खास संस्कृति के वर्चस्व को बनाए रखने का कार्य करता है, जहाँ दलितों को हीन मानकर सामाजिक स्तरीकरण को यथास्थितिवादी बनाए रखना है। इस प्रकार शिक्षा का मूल प्रकार्य विभेदन करना है (बोदयू : 2008)। अतएव विद्यालय/शिक्षा सामाजिक मान्यताओं के अनुरूप विभेदनकारी भूमिका का निर्वाह करती है। इस प्रकार शिक्षा समावेशन का वाहक न होकर बर्हिवेशन की भूमिका का निर्वाह करती है। (शर्मा 2014) लेकिन वहीं शिक्षा को सामाजिक परिवर्तन का अगवा भी माना जाता है। फूले और अम्बेडकर ने शिक्षा की भूमिका को विमुक्तिकारी माना है, जो ज्ञान के निर्माण के माध्यम से सामाजिक संरचना के षड्यंत्र को समझने व उसे तोड़ने की भूमिका का निर्वाह करती है। डॉ. कौशल पंवार के शब्दों में "मेरे पिताजी ने हमेशा कहा कि बेटा खूब पढ़ो।" वहीं पूर्व में वर्णित ड्रेस वाले प्रसंग से यह समझ विकसित होती है कि शिक्षा ही इस विभेदीकरण को जानने का व उसे

तोड़ने का माध्यम है। शिक्षा ही इन असमान कुरीतियों के प्रति विरोध करने की चेतना का निर्माण करती है। इसी प्रकार ओम प्रकाश बाल्मीकि के प्रसंग में भी यह स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है कि शिक्षा से यह आशा की जाती है कि वह समाज में स्थापित विभेद को समाप्त करेगी। शिक्षा से यह आशा भी की जाती है कि वह हमारी इस आर्थिक सामाजिक स्थिति में बदलाव ला सकेगी। फ्रेरे (2010) में यह स्थापित करने का प्रयास किया कि शिक्षा न केवल उत्पीड़ित की चेतना का विकास करती है, अपितु उत्पीड़क की भी चेतना को मानववादी बनाने की भूमिका का निर्वाह कर सकती है। डॉ. कौशल पंवार की आर्थिक स्थिति में परिवर्तन व उसकी चेतना में जागृति उत्पीड़ित की चेतन विकास की पुष्टि जरूर करता है, अपितु उत्पीड़क के चेतन विकास को उनके जे.एन.यू. छात्रावास में उनकी साथी की मनोवृत्ति नहीं बदलतो और न ही उस मकान मालिक की मनोवृत्ति को बदलती, जिन्होंने उनके चले जाने के बाद उस घर में दोबारा रंग-रोगन करवाया ताकि उसे शुद्ध किया जा सके। इसी प्रकार गुरु (2002) भी जातीय अवमाननाओं का एक पक्ष सकारात्मक रूप में देखते हैं, जहाँ वह कहते हैं कि जीवन में जातीय अवमाननाए हमें उनसे संघर्ष करने की अभिप्रेरणा देती है, खासकर विद्यालय में जब जातीय विभेदन हमें उसे और अधिक जानने व समझने के लिए अभिप्रेरित करत हं, परन्तु यह अभिप्रेरण केवल और केवल वैयक्तिक हो सकता है, चूंकि व्यवस्था तो हीन बनाए रखने व बर्हिवेशित करने का प्रकार्य करती है।

निष्कर्ष:- अन्ततः निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि शिक्षा समाज में परिवर्तनकारी भूमिका की सापेक्ष छवि का निर्माण करती ह, परन्तु परोक्ष रूप से यह विभेदन का एवं शान्ति सम्बन्धों के अनुकूल सामाजिक स्तरीकरण की भूमिका का निर्वाह करती है। इसके बावजूद शिक्षा व्यक्तिगत स्तर पर अग्रगामी उन्मुखीकरण का अवसर प्रदान करती है, परन्तु सामाजिक स्तर पर यह यथास्थितिवादी भूमिका का ही पोषण करती है।

*****

संदर्भ ग्रंथ सूची

- Apple, M. W. (1993). *Official knowledge: Democratic education in a conservative age*. Routledge.
- अम्बेडकर, डॉ. बी. आर. (2014). *बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय खंड-13: शूद्र कौन थे*. डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान.
- अम्बेडकर, डॉ. बी. आर. (2014). *बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय खंड-9: अस्पृश्यता अथवा भारत में बहिष्कत बस्तियों के प्राणी*. डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान.
- अल्थूसर, एल. (2008). विचारधारा और राज्य के वैचारिक उपकरण. सु. शुक्ला, & कृ. कुमार (संपा.), *शिक्षा का समाजशास्त्रीय संदर्भ* (म. डोनिया, अनु.) (पृ. 111-118). ग्रंथ शिल्पी.

- Beteille, A. (2014). The peculiar tenacity of caste. In S. Deshpande (Ed.), *The problem of caste* (pp. 53–62). Orient Blackswan.
- Channa, S. M. (2013). Looking up at caste: Discrimination in everyday life in India. In S. M. Channa & J. P. Mencher (Eds.), *Life as a Dalit: Views from the bottom on caste in India* (pp. xiii–xxxix). Sage Publications.
- Dalit the downtrodden of India. (n.d.). Isha Books.
- डिवी, ज. (1998). *शिक्षा और लोकतंत्र.* ग्रंथ शिल्पी.
- दुबे, श्. (2000). *शिक्षा, समाज और भविष्य.* राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड.
- फ्रेरे, प. (1997). *उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र* (र. उपाध्याय, अनु.). ग्रंथ शिल्पी.
- (2010). *उम्मीदों का शिक्षाशास्त्र* (विपिन, अनु.). ग्रंथ शिल्पी.
- गुरू, गो. (2002). अवमानना के आयाम: हीनता की मनोग्रंथि, स्त्रोत और निराकरण. अ. कु. दुबे (संपा.), *आधुनिकता के आईने में दलित* (पृ. 88–115). वाणी प्रकाशन.
- Ilaiah, K. (2014). Reservations. In S. Deshpande (Ed.), *The problem of caste* (pp. 367–375). Orient Blackswan.
- इलय्या, क. (2006). *मैं हिन्दु क्यों नहीं* (ओ. प्र. वाल्मीकि, अनु.). साम्या प्रकाशन.
- Indradeva, S. (1999). Shaping of the traditional pattern of stratification in India. In K. L. Sharma (Ed.), *Social inequality in India: Profiles of caste, class, and social mobility* (pp. 26–52). Rawat Publication.
- Joanna, B. (1999). Is oral history auto/biography? In A. Bryman & R. G. Burgess (Eds.), *Qualitative research: Volume II* (pp. 193–205). Sage Publications.
- लाल, अ. (2009). *बोधिसत्व बाबासाहेब डॉ. आंबेडकर: जीवन और दर्शन.* सम्यक प्रकाशन.
- NCERT. (2007). *Position paper: National focus group on problems of scheduled caste and scheduled tribes children.* National Council of Educational Research and Training.
- राम, ज. (1996). *भारत में जातिवाद और हरिजन समस्या.* राजपाल प्रकाशन.
- शर्मा, स. (2013). *सामाजिक बर्हिवेशन, अस्मिता और शिक्षा: दलित समुदाय के संदर्भ में एक व्यक्तिवृत अध्ययन* (अप्रकाशित पीएच.डी. शोध-प्रबंध). दिल्ली विश्वविद्यालय.
- Sukumar, N. (2008). Living a concept: Semiotics of everyday exclusion. *Economic & Political Weekly*, 43(46), 14–17.
- Sadangi, H. C. (2008). *Emancipation of Dalits and freedom struggle*. Isha Books.
- वाल्मीकि, ओ. (2014). *जूठन.* राधाकृष्ण पेपरबेक्स.
- WWW.Youtube.com. (2015, January 1). *URL*: https://www.Youtube.com/watch?v=7OUoXsryE3c

शिक्षा संवाद
2024, 11(1): 53-59
ISSN: 2348-5558
©2024, संपादक, शिक्षा संवाद, नई दिल्ली

आलेख

मार्टिन हाइडेगर का शिक्षा दर्शन

डॉ. अनामिका
दिल्ली विश्वविद्यालय

सार

इस लेख में हाइडेगर के शिक्षादर्शन से संबंधित विचारों का अध्ययन किया गया है। उनमें शिक्षा दर्शन की भारतीय शैक्षिक संदर्भ में क्या प्रासंगिकता है उस पर भी विचार किया गया है। हाइडेगर के दर्शन के दो मुख्य स्तम्भ 'समय' और 'अस्तित्व' है इन दोनो अवधारणाओं का शिक्षा के विभिन्न मुद्दों को समझने में क्या योगदान हो सकता है उस पर भी विचार किया गया है। हाइडेगर के मत में शिक्षक और शिक्षार्थी का संबंध सम्मान, समानता एवं आपसी लगाव पर आधारित होना चाहिए और शिक्षा का उद्देश्य शिक्षार्थियों को स्वतंत्र चिंतन के लिए तैयार करना होना चाहिए।

कूटशब्द : *शिक्षा, दर्शन, अस्तित्व, धर्म, शिक्षक*

प्रत्येक इंसान चिंतन करता है, परन्तु सभी चिंतक नहीं होते -हाइडेगर (1961)

समकालीन भारतीय शिक्षा ऐसे मोड़ पर खड़ी है जहाँ प्रत्येक शिक्षार्थी की पहचान उसके धर्म, जाति, लिंग, प्रदेश, भाषा और आर्थिक स्थिति से होने लगी है। यह नई परिघटना नहीं है। परंतु हाल ही में यह व्यापक हो गयी है। बड़ा प्रश्न यह है कि इस परिस्थिति से बाहर कैसे आया जाए। मार्टिन हाइडेगर जोकि एक जर्मन दार्शनिक थे, उनका शिक्षा दर्शन इस परिस्थिति के गहराई से समझने में न केवल सहायता करता है बल्कि इसमें बदलाव लाने में कारगर साबित हो सकता है।हाइडेगर उन्नीसवीं शताब्दी के उन दार्शनिकों में से है जिन्होंने दर्शनशास्त्र को धार्मिक दर्शन से परे एक स्वतंत्र पहचान दी। जो विकास भारत में अभी तक नहीं हो पाया है और आज भी दर्शन का अर्थ धार्मिक दर्शन ही होता है। इस दृष्टिकोण से भी हाइडेगर के दार्शनिक विचारों का भारतीय संदर्भ में विशेष रुप से शैक्षिक दर्शन शास्त्रियों के लिए महत्त्वपूर्ण है।

हाइडेगर दर्शनशास्त्र के हरम्यूनिटिक सम्प्रदाय से है जिसका मुख्य विचार बिन्दु है कि चिंतन कैसे संभव होता है? जब एक शिक्षाशास्त्री इस प्रश्न पर विचार करना प्रारंभ करता है कि चिंतन कैसे होता है तब वह दर्शन के क्षेत्र में प्रवेश कर जाता है। और इस प्रश्न के उत्तर की खोज में वह मानव क्या है, जीवन क्या है, सत्य क्या है, वास्तविकता क्या है इत्यादि जोकि ज्ञान मींमासा, सत्ता मीमांसा एवं तत्व मीमांसा की श्रेणियों में आते है, उनका उत्तर खोजने का प्रयास का प्रयास करता है। यह मूलभूत प्रश्न सहायक सिद्ध होते हैं चिंतन कैसे संभव होता है के प्रश्न पर प्रकाश डालने में। और इस प्रश्न का उत्तर किसी भी शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया की नींव है।

हाइडेगर के शिक्षा संबंधी विचार उनके दर्शन में बिखरे हुए हैं और उपरोक्त प्रश्न का उत्तर देने का सतत प्रयास करते हैं। इस निबंध में उनके शिक्षा संबंधी विचारों को एकजुट करने का और हाइडेगर की शैक्षिक दृष्टि को समझने और उसका भारतीय शिक्षा संदर्भ के लिए महत्व को सरेखित करने का एक छोटा सा प्रयास किया गया है।

हाइडेगर का दर्शन

हाइडेगर के दर्शनशास्त्र पर एक नज़र डालना उनके शैक्षिक विचारों को गहराई से समझने में कारगर सिद्ध होगी। हाइडेगर के लिए दर्शनशास्त्र एक ऐसा चिंतन है जो ज्ञान के विभिन्न परिप्रक्ष्यों का द्वार खोलती है एवं नए मानकों का निर्माण करती है। 'अस्तित्व' और 'समय' हाइडेगर के दो ऐसे मूलभूत दार्शनिक विचार है जो उनके दर्शनशास्त्र की रीढ़ है। 'अस्तित्व' के अर्थ की सामान्य समझ में तीन पूर्वमान्यताएँ निहित है, वे हैः यह एक सार्वभौमिक अवधारणा है, परिभाषा से परे है एवं स्व-सिद्ध है। हाइडेगर ने 'अस्तित्व' की इस सामान्य समझ को नकारते हुए कहा कि ये पूर्वमान्यताएँ 'अस्तित्व' की परिभाषित करने में सहायता नहीं करती।

हाइडेगर का मानना है कि किसी भी प्रश्न का तार्किक निष्कर्ष इस बात पर निर्भर करता है कि उसका निरुपण कितना तार्किक था। किसी भी दार्शनिक प्रश्न का संरुपण अन्वेषण पर आधारित होना चाहिए (1962:25)। अन्वेषण से हाइडेगर का अर्थ एक प्रकार की तलाश है जोकि तलाश के उद्देश्य से निर्देशित होती है। जब हम 'अस्तित्व' क्या है का अन्वेषण करते हैं तो हमें यह जान पड़ता है यह वो है जो 'है'। 'अस्तित्व' की यह आंशिक समझ है। (1962:25) परन्तु यह आंशिक समझ एक तथ्य है जिससे अनदेखा नहीं किया जा सकता। क्योंकि कुछ सीमा तक यह वास्तविकता भी है। प्रत्येक वस्तु

जिसके बारे में हम बात करते हैं, या देखते हैं, या अपने आप को किसी भी वस्तु से संलग्न करते हैं कहीं ना कहीं 'अस्तित्व' से जुड़ा होता है यह अस्तित्व के विभिन्न प्रकार हैं (1962:25)।

'मानव अस्तित्व' का अध्ययन और विश्लेषण एक विशेष समय काल के संदर्भ में ही किया जा सकता है।'मानव अस्तित्व' शून्य में नहीं बल्कि समय के क्षितिज में प्रकट होता है। वह क्षितिज, भूतकाल, वर्तमान और भविष्य में भी हो सकता है। हाइडेगर के लिए'अस्तित्व' वो है जो मूर्त और प्रत्यक्ष तो है परन्तु उससे पर भी है (1962:25) 'अस्तित्व' को समय के संदर्भ में समझने पर यह सार्वभौमिक नहीं रह जाता बल्कि एक विशिष्ट रुप ले लेता है। सेफ्रांस्की (1998:148) ने हाइडेगर के दर्शन में 'समय' का महत्त्व बताते हुए लिखा कि 'अस्तित्व' का अर्थ 'समय' है 'अस्तित्व' का अर्थ जानने की सम्पूर्ण प्रक्रिया में हम इस समस्या से संबंधित प्रश्न बनाना सीखते हैं। दूसरे, हम अन्वेषण की प्रक्रिया से भी परिचित हो जाते हैं। जोकि इस संपूर्ण प्रक्रिया का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण परिणाम होता है। इस प्रक्रिया में यदि हम कोई निष्कर्ष नहीं निकाल पाते तो निराश होने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि मुख्य बिंदु यह है कि हम प्रश्न करना और उनका गहन अध्ययन करना सीखें।

हाइडेगर ने 'अस्तित्व' को समय के संदर्भ में समझने पर उसे उसके धार्मिक समझ से अलग कर दिया। 'मानव अस्तित्व' की यह धर्मनिरपेक्ष समझ आज के भारतीय समाज को लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि का आज का भारतीय राज और समाज एक व्यक्ति के पहचान रहा है। हाइडेगर का दर्शन 'मानव अस्तित्व' को धर्म से परे देखने की एक नई दृष्टि प्रदान करता है। 'अस्तित्व' की इस धर्मनिरपेक्ष समझ समझ की शिक्षा और शिक्षक दोनों के लिए प्रासंगिकता है। भारतीय शिक्षक भी सामान्यतः अपने शिक्षार्थियों को धार्मिक एवं जातीय श्रेणियों में विभाजित करके देखती/देखता है। कुछ ऐसी ही समझ का निर्माण भारतीय संविधान ने भी करने की कोशिश की है परन्तु शिक्षक प्रशिक्षण संस्थानों को अपने पाठयक्रम एवं शिक्षणशास्त्र को इस धर्म निरपेक्षता से संचरित करना होगा तभी भविष्य के शिक्षक अपने छात्रों को एक व्यक्ति के रुप में देखेंगे ना कि उसमे जाति या धर्म के संबंध में।

हाइडेगर और शिक्षा का सार

हाइडेगर के शिक्षा संबंधि विचार उनके दर्शन में यत्र तत्र पाऐ जाते हैं। इस भाग में उन विचारों को एकत्रित करने और उनका समकालीन भारतीय शिक्षा के लिए प्रासंगिकता पर चर्चा की जाएगी। हाइडेगर ने शिक्षा के प्रश्न को 'मानव अस्तित्व' एवं 'समय' के संदर्भ में देखा है। उनका मानना है कि शिक्षा का प्रश्न तत्त्वमींमासा के क्षेत्र में आता है जोकि वास्तविकता क्या है? पर विचार करता है। अतः

यह अत्यधिक महत्वपूर्ण हो जाता है कि शिक्षा के सवाल को 'ऐतिहासिक समय' के अंतर्गत देखें और यह किस प्रकार विभिन्न कालों में विकसित हुई। क्योंकि 'समय' के साथ-साथ 'मानव अस्तित्व' में आए परिवर्तन शिक्षा के दर्शन एवं अभ्यास में भी प्रतिदर्शित होते हैं। इस लेख के अगले भाग में उपरोक्त वर्णन की रोशनी में हाइडेगर के शिक्षक, शिक्षार्थि और पाठयक्रम जैसी अवधारणाओं पर विमर्श किया जाएगा।

हाइडेगर और शिक्षक

आज का भारतीय शिक्षक ज्ञान के विस्फोट इंटरनेट एवं तकनीक के प्रसार एवं शिक्षार्थियों के विविध रुचियों से लगातार दो-चार हो रहा है। ऐसी स्थिति में यदि वह शिक्षार्थि को स्वयं से चिंतन करना सिखा दे तो संभवतहः उसकी स्थिति में कुछ सुधार आ सकता है। पैटिसन (2000) लिखते हैं कि हाइडेगर शिक्षण को सर्वाधिक मुश्किल व्यवसाय मानते थे क्योंकि एक शिक्षक का काम अपने शिक्षार्थियों को सीखने की कला सिखानी होती है।

उनका मानना था कि ज्ञान का विशाल भंडार शिक्षार्थियों के समक्ष उपस्थित होता है परन्तु उन्हें पता नहीं होता कौन-सा ज्ञान सीखने योग्य है और उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है। ऐसी परिस्थिति में शिक्षक की भूमिका महत्त्वपूर्ण हो जाती है। एक शिक्षक को अपने सभी विद्यार्थियों के बारे में विस्तार पूर्वक जानना होता है ताकि वह शिक्षार्थि को उसकी अभिवृति एवं अभिरुचि के अनुरुप सीखने का मार्ग चुनने में सहायता कर सके। सीखने के इस चुने हुए मार्ग में, ज्ञान को प्रकट करने, प्राप्त करने, और समाहित करने की प्रक्रिया में शिक्षार्थि अपने अस्तित्व को समय एवं संसार के संदर्भ में एक आकार दे पाता है।

इससे पर्याय यह है कि ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया के दौरान शिक्षार्थि अपने 'अस्तित्व' की समझ को विकसित करता है। बाहय ज्ञान की रोशनी में शिक्षार्थि अपने 'अस्तित्व' को देखता है तो उसके सामने कई प्रश्न आते हैं जिन्हें उत्तरित करने का प्रयास 'अस्तित्व' के 'अनफोल्ड' होने की दिशा में ले जाता है।

हाइडेगर पर नात्जी कला में शिक्षार्थियों पर मतारोपण करने का आरोप लगाया गया इस प्रकार के आरोप शिक्षकों पर प्रायः लगाए जाते रहे हैं। हाइडेगर ने इस आरोप को नकारते हुए कहा दर्शनशास्त्र एक विचारधारा नहीं है और ना ही शिक्षक कोई प्रचारक होता है। इस तर्क को आगे बढ़ाते हुए हाइडेगर ने

कहा कि समकालीन शिक्षार्थी के मस्तिष्क में चल रही बातों को जानना संभव नहीं है। वे कोई चिकनी मिट्टी नहीं है जिन्हें जैसा चाहे आकार दे दें। वो स्वतंत्र है और स्वयं सोच सकते हैं। कि क्या ज्ञान है और क्या मतारोपण।

परंन्तु इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता कि शिक्षकों की अपनी विचारधारा होती है और कुछ ऐसे शिक्षक भी होते हैं जो मतारोपण का प्रयास कभी सचेत तो कभी अचेत रुप से करते रहे हैं। भारतीय कक्षाओं में जाति, धर्म, लिंग और भाषा को लेकर ऐसी परिस्थितियां उठती है जिसमें अध्यापक अपनी जाति, धर्म या भाषा को ध्यान में रखकर परिस्थिति का संचलन करता है जोकि कभी-कभी संवैधानिक मूल्यों के खिलाफ भी चला जाता है। लिंग आधारित स्टिरियोटाइप को कक्षा में पुनर्बलित करने का अविरल प्रयास मैंने स्वयं कक्षा अवलोकन के दौरान बहुत बार साक्षात देखा है। इस प्रकार के उदाहरण शिक्षार्थी के स्वतंत्र चिंतन में बाधक सिद्ध होते हैं। हाइडेगर से सीख लेते हुए भारतीय शिक्षक को चाहिए के अपने विचारों को शिक्षार्थियों पर ना थोपें चाहे वो विचार उनकी दृष्टि में कितने ही मूल्यवान क्यों ना हो। अगर भारतीय शिक्षक अपनी कक्षाओं में संवैधानिक मूल्यों और विचारों को अपनी विभिन्न चर्चाओं का आधार बनाऐं तो मतारोपण के इल्जाम से बच सकते हैं और अपने शिक्षार्थियों में एक वैज्ञानिक और मानवीय दृष्टिकोण का विकास भी कर सकते हैं।

हाइडेगर शिक्षक-शिक्षार्थी संबंध पर

भारतीय समाज मूलतः कर्त्तव्य पर समाज है। इससे पर्याय यह है कि समाज में कर्त्तव्यों को अधिकारों पर प्राथमिकता दी जाती है। सभी संबंध भारतीय समाज में कर्त्तव्यों की धूरी पर घूमते हैं। और शिक्षक-शिक्षार्थी का संबंध भी इससे परे नहीं है। शिक्षक का पद हमेशा शिक्षार्थी से ऊँचा माना जाता है। जिसमें शिक्षक के ज्ञान पर प्रश्नचिन्ह लगाने का अर्थ है उसका असम्मान करना भारतीय शिक्षक को अपनी इस मानसिकता को बदलने की आवश्यकता है और स्वयं को एक शिक्षार्थी समझने और उसी रुप से प्रस्तुत करने की आवश्यकता है। ऐसा करने पर उसे हर समय अपमानित होने का डर नहीं होगा और वह शिक्षार्थियों के साथ एक स्नेहमयी संबंध स्थापित कर पायेगा।

हाइडेगर का मानना है कि शिक्षक और शिक्षार्थी का संबंध ऐसा करार नहीं है जिसमें शिक्षक ज्ञानदाता है और शिक्षार्थी ज्ञान प्राप्त करने वाला। जिस करार के अंतर्गत शिक्षार्थी कभी शिक्षक की सत्ता पर कोई प्रश्नचिन्ह नहीं लगा सकता। हाइडेगर का विश्वास था कि शिक्षार्थी एवं शिक्षक का संबंध उन दोनों के बीच के आपसी लगाव पर आधारित है। हाइडेगर कहते हैं कि अगर यह संबंध आपसी

सम्मान पर आधारित है और शिक्षार्थी शिक्षक के साथ सुरक्षित महसूस करता है और उसके साथ प्रसन्न है तो यह एक शिक्षक के सफल होने का संकेत है (ऐलन एवं एक्ज़िओटिस 2002:30)।

हाइडेगर का यह भी मानना था कि शिक्षक-शिक्षार्थी संबंध कभी भी असमान शक्ति समीकरणों पर आधारित नहीं हो सकता एक शिक्षक अपने शिक्षार्थी के प्रश्नों और शंकाओं को दूर करने का भरसक प्रयास करता है, उनके वैयक्तिक मतों का सम्मान करता है, उन्हें और प्रश्न करने और उनका उत्तर खोजने के लिए प्रोत्साहित करता है। यह समानता का संबंध शिक्षार्थी को इस बात के लिए तैयार करता है कि वह ज्ञान के अथाह सागर में डूब न जाऐ बल्कि उसमें से मोती चुनकर बाहर आऐ। इस ज्ञान प्राप्ति की पूरी प्रक्रिया में शिक्षक-शिक्षार्थी के लिए कोई निर्णय नहीं लेता बल्कि निर्णय लेने में शिक्षार्थी की मदद करता है।

उनके विचार में शिक्षा में अज्ञान का भी महत्त्व है और उसकी आलोचना नहीं की जानी चाहिए क्योंकि अज्ञान ही ज्ञान की ओर ले जाता है,और उस परिस्थिति में शिक्षक और शिक्षार्थी के बीच में जो संवाद पैदा होता है वही अज्ञान के अंधेरे को छाँटते हुए ज्ञान के प्रकाश की ओर ले जाती है। क्योंकि संवाद के प्रक्रिया में संलग्न शिक्षक एवं शिक्षार्थी एक ही समस्या को विभिन्न आयामों से देखने का प्रयास करते हैं, जोकि अन्वेषण की एक विशिष्ट विशेषता भी है, अतः संवाद में संलिप्त होने का अर्थ अन्वेषण करना हो जाता है।

हाइडेगर और पाठ्यक्रम

हाइडेगर ने पाठ्यक्रम के संदर्भ में बात करते हुए समाजिक विज्ञान के ओहदे पर चिंता जताई। हाइडेगर का मानना था कि सामाजिक विज्ञान किसी भी शैक्षणिक संस्था के लिए सज्जा का सामान मात्र है। उनके अनुसार विज्ञान ने सामाजिक विज्ञान को दोयम दर्जे का बना डाला है।

सामाजिक विज्ञान एक ऐसा विषय है जिसमें वस्तुनिष्ठ जगत से आगे बढ़कर व्यक्तिनिष्ठ और मानकपरक जगत का भी अध्ययन किया जाता है। सामाजिक विज्ञान की इसी विशेषता के कारण यह एक शिक्षार्थी को न केवल चिंतन करने बल्कि उस चिंतन को वातावरण, समाज और व्यक्ति को सामूहिक रुप में समझने में भी सहायता करता है।

सामाजिक विज्ञान पढ़ने के उपरान्त व्यक्तिगत स्तर पर शिक्षार्थी के स्वयं के जीवन में और सामूहिक स्तर पर समाज में परिवर्तन आता है। सामाजिक विज्ञान पढ़कर शिक्षार्थी कोई ऐसी नई खोज नहीं करता जोकि आर्थिक या तकनीकि विकास में योगदान दे। 'विकास' की इस संकुचित अवधारणा से हाइडेगर बिल्कुल सहमत नहीं थे। विकास की इस संकुचित अवधारणा ने भौतिकता को बढ़ावा दिया है और इससे मानवीय मूल्यों का पतन हुआ है। इसका एक परिणाम यह भी हुआ है कि मानव में असंतोष और व्यथा का संचार हुआ है।

हाइडेगर ने टेक्नॉलजी को बड़ी सावधानीपूर्वक प्रयोग करने की बात की है। टेक्नॉलजी तभी तक उपयोगी है जब तक वह चिंतन करने में सहयोग दे। जैसे ही मानव टेक्नॉलजी पर निर्भर हो जाता है टेक्नॉलजी उसके लिए चिंतन करती है। यह बड़ी आत्मघाती परिस्थिति होती है किसी भी समाज के लिए।अंततः यही कहा जा सकता है कि हाइडेगर का शिक्षा दर्शन आज भी उतना ही समसामयिक है जितना की उन्नीसवीं शताब्दी में। क्योंकि आज राज्य और उसकी विभिन्न संस्थाएं शिक्षा को कौशल विकास के समकक्ष ला रही है। ऐसे में यह तात्कालिक आवश्यकता है कि शिक्षा प्रत्येक शिक्षार्थी को चिंतन करने, प्रश्न करने और वैकल्पिकउत्तर देने और स्वीकार करने के लिए तैयार करे। शिक्षा शिक्षार्थी को अपने 'अस्तित्व' को समझने ओर उसको एक दिशा में विकसित करने में मदद करे।

सन्दर्भ

- एलन, वी और एक्ज़िओरिस, ए. डी. (2002) हाइडेगर ऑन दी आर्ट ऑफ टीचिंग, एम. ए. पीटर्स (संपादक) हाइडेगर, एजुकेशन एंड मोडनिटी। लंदनः रोमन एंड लिटिलफिल्ड पब्लिशर्स। 28-45।
- हाइडेगर, एम. (1961), एन एन्ट्रोडक्शन टू मेटाफिज़िक्स (आर. मेनहाइन, अनुवाद). न्यूयार्कः एंकर बुक्स।
- हाइडेगर, एम. (1962) बीइंग एंड टाईम (जे. मेक्कवेरी एवं ई. रोबिन्सन, अनुवाद). न्यूयार्कः हारपर एंड रो.पेटीसन, जी. (2000) दी लेटर हाइडेगर लंदनः रुटलेज।
- सेफरन्सकी, आर. (1998) मार्टिन हाइडेगर; बिटवीन द गुड एवं ईवन (ई. आसर्स अनुवाद). केमब्रिजः हार्वड यूनिवर्सिटी प्रेस।

“This page is intentionally left blank"

शिक्षा संवाद
2024, 11(1): 61-65
ISSN: 2348-5558
©2024, संपादक, शिक्षा संवाद, नई दिल्ली

आलेख

शिक्षा और समाज

डॉ विजय शिंद
देवगिरी महाविद्यालय ,
औरंगाबाद (महाराष्ट्र)

सार

अर्थ, राजनीति, धर्म, संस्कृति, इतिहास, भूगोल, समाजशास्त्र, विज्ञान तथा दुनिया की तमाम अध्ययन की सामग्री समाज और शिक्षा से संबंध रखती है। प्राथमिक स्तर की शिक्षा समाज के लघु विषयों को लेकर आगे बढ़ती है और आगे चलकर उच्च शिक्षा में व्यापक रूप धारण करती है। लेकिन पढ़ाई हेतु रखी किताबें और ऐसी शिक्षा समाज के साथ नाममात्र संबंध रखती है। समाज और शिक्षा का प्रत्यक्षदर्शी संबंध नहीं रहता है, वह किताबी बन जाता है। सामाजिक अध्ययन का साधन किताबें नहीं तो समाज है। समाज का शिक्षा के साथ रिश्ता धुंधला बनते जा रहा है।

कूटशब्द : *शिक्षा, समाज, राजनीति, धर्म, संस्कृति, इतिहास, भूगोल, समाजशास्त्र,*

समाज एक ऐसी संस्था है जिसके अंतर्गत बहुत कुछ समा सकता है। समाज और व्यक्ति का सनातन रिश्ता है और दोनों में कौनसा घटक महत्त्वपूर्ण है इस पर कई सालों से लंबी बहसे भी हो गई हैं। व्यक्ति, समाज और शिक्षा को जोड़कर देखे तो फिर एक बार विषय की एहमियत सामने आ जाती है। सवाल यह निर्माण होता है कि शिक्षा का अंतिम उद्देश्य समाजहित होता है कि व्यक्तिहित? व्यक्ति-व्यक्ति के समूह से समाज बनता है। अतः समाज की महत्त्वपूर्ण इकाई व्यक्ति है। इसमें कोई दो राय नहीं कि शिक्षा का मूल उद्देश्य समाजहित है, लेकिन पूरे समाजहित की कल्पना करना और उसे अंजाम तक लेकर जाना बहुत मुश्किल है। अतः प्रत्येक व्यक्ति का हित, आवश्यकताएं, कठिनाइयां और समूचे विकास को ध्यान में रखते हुए जब व्यवस्था बनाई जाती है तब अपने-आप समाजहित बनता है।

शिक्षा में भी ऐसे ही होता है। उत्तम और सर्वोत्तम व्यक्तियों की निर्मिति के मूल में समाजहित होता है। लेकिन अंततः व्यक्ति का पूरा विकास जब चरमसीमा को छूता है तब उसका कार्य समाजहित के लिए लाभप्रद होना चाहिए। सोच, विचार और कृति समाजभिमुख तथा उसकी उन्नति के अनुकूल होनी चाहिए। जब व्यक्ति का स्वार्थ बीच में आकर अपने हित की बात करता है तब समाज की हानि होती है और शिक्षा का मूल उद्देश्य भी असफल बन जाता है। व्यक्तिहित और समाजहित का समन्वय शिक्षा का उद्देश्य रहा है। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए व्यक्ति, समाज और शिक्षा को देखा जाता है।

समाज के सर्वांगीण अध्ययन की दृष्टि से शिक्षा का ताना-बाना बुना जाता है। विषयों का विभाजन और उसके अंतर्गत समाविष्ट सामग्री समाज से जुड़ी हुई होती है। इस सामग्री के अध्ययन से व्यक्ति, समाज और शिक्षा का संबंध प्रस्थापित होता है। "सामाजिक हित की पारंपरिक अवधारणा तीन विषयों के मिश्रण की है – इतिहास, भूगोल और नागरिकशास्त्र। निश्चय ही यह तीनों समाज के सम्यक अध्ययन में मदद देने वाले विषय है, किंतु केवल तब जब इन्हें एक-दूसरे से संबंधित करके पढ़ा जाए।"

इन विषयों का समन्वित अध्ययन ही सामाजिक जीवन का परिचय बन जाता है। उनकी पृथक पढ़ाई असंभव है और ऐसी पृथक पढ़ाई मात्र विषय या किताबी बनकर रह जाती है। वर्तमान शिक्षा का दुर्भाग्य यह है कि समाज जीवन के इन तीन आधार स्तंभों का पृथक अध्ययन किया जाता है। अर्थ, राजनीति, धर्म, संस्कृति, इतिहास, भूगोल, समाजशास्त्र, विज्ञान तथा दुनिया की तमाम अध्ययन की सामग्री समाज और शिक्षा से संबंध रखती है। प्राथमिक स्तर की शिक्षा समाज के लघु विषयों को लेकर आगे बढ़ती है और आगे चलकर उच्च शिक्षा में व्यापक रूप धारण करती है। लेकिन पढ़ाई हेतु रखी किताबें और ऐसी शिक्षा समाज के साथ नाममात्र संबंध रखती है। समाज और शिक्षा का प्रत्यक्षदर्शी संबंध नहीं रहता है, वह किताबी बन जाता है। सामाजिक अध्ययन का साधन किताबें नहीं तो समाज है। समाज का शिक्षा के साथ रिश्ता धुंधला बनते जा रहा है। स्कूलों में समाज का जो भ्रम पैदा हो जाता है वह किताबों के जरिए ही होता है। सामाजिक जीवन का चित्रण शब्दों में किया जाता है और उसके अध्येता शब्दों के आधार से कल्पना करते हैं। इसी कल्पना के आधार पर समाज का अध्ययन जारी रहता है। समाज और अध्येताओं के बीच शब्दों का पूल रहता है जो शिक्षा की असफलता को साबित करता है। अतः शिदक्षा को दीवारों से परे जाकर, किताबों से बाहर निकलकर समाज के साथ प्रत्यक्षदर्शी संबंध स्थापित कर देखने की जरूरत है। समाज का प्रत्येक व्यक्ति, व्यापारी, व्यावसायिक, किसान और

वैज्ञानिक आदि का शिक्षा से संबंध स्थापित होना चाहिए। ऐसी प्रक्रिया से जिन बच्चों के लिए शिक्षा का निर्माण किया गया है उनकी निर्भरता अध्यापक और किताबें न रहकर समाज पर रहने लगेगी तब शिक्षा और समाज का संबंध दृढ़ बनेगा।

व्यक्ति और समाज के बीच समन्वय की जरुरत है। इसकी पूर्ति शिक्षा द्वारा की जा सकती है। व्यक्ति और समाज को भिन्न मानकर या किसी एक को महत्त्व देकर शिक्षा का आयोजन भविष्य को अंधकारमय बनाता है। व्यक्तित्व विकास के लिए अपने अधिकारों के साथ उत्तरदायित्वों के प्रति सजग रहने की अपेक्षा है। समाज के प्रति जिम्मेदारियों का एहसास, जाग्रति पैदा करने की क्षमता शिक्षा में होनी चाहिए। "आज व्यक्ति का समाज के साथ संयोग और सुसंवाद निर्माण करना ही शिक्षा का कार्य समझा जाता है।"

शिक्षा में जो नए विचार मुखरकर सामने आए हैं उनमें व्यक्तिवादी और समाजवादी उद्देश्यों की संगति बिठाने का प्रयास किया जा रहा है। व्यक्ति जब पैदा होता है तब उसका दिमाग पूरी तरह खाली होता है। आसपास का परिवेश, परिवार और समाज में निहित सभी शाखाओं का समय-समय पर उसके साथ संबंध जुड़ता रहता है। इन्हीं संबंधों के जुड़ने से उसे शिक्षा मिलती है। वह संस्कारित बन कर उसके व्यक्तित्व का विकास होने लगता है। अतः व्यक्ति की पाठशाला और अध्ययन का क्षेत्र किताबें और पाठशाला नहीं तो समाज होता है। समाज जितना सदृढ़ और साफ-सुथरा होगा उतनी ही व्यक्ति-शिक्षा खतरे से खाली रहेगी।

शिक्षा और समाज का सिर्फ नजदीकी संबंध नहीं है बल्कि समाज पर आधारित शिक्षा का निर्माण होता है। समाज एक ऐसी संस्था है जो समय और काल के अनुकूल परिवर्तित होती है। प्राचीन या मध्यकाल में जो सामाजिक व्यवस्था थी वह आज नहीं है और आज जो है वह कल नहीं रह जाएगी। स्थान और प्रदेश के अनुकूल भी समाज का अलग रूप दिखाई देता है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था अन्य देशों की तुलना में अलग है। उसी सामाजिक व्यवस्था के अनुकूल वहां की शिक्षा व्यवस्था का निर्माण होता है। स्थान, काल, समय, परिवेश, संस्कृति आदि का परिणाम शिक्षा पर होता है, इनके परिवर्तन से शिक्षा में परिवर्तन होता है। अतः तुलनात्मक अध्ययन करते हुए समाज परिवर्तन के साथ पाठ सामग्री और किताबों का पूनर्निर्माण नितांत आवश्यक है।

राष्ट्र विकास और भविष्य निर्माण की दृष्टि से उन सूक्ष्म परिवर्तनों का लेखा-जोखा समय-समय पर लेकर शिक्षा में परिवर्तन करना सरकार, शिक्षा के विद्वतजन और समाजशास्त्रियों का प्रथम कर्तव्य है। समाज पर शिक्षा, शिक्षा पर समाज निर्भर है। "एक ही समाज की शिक्षा भी समाज में परिवर्तन आ जाने पर कालांतर में बदल जाएगी। इन परिवर्तनों का लेखा रखना शिक्षा के इतिहास का क्षेत्र है। समाज के शैक्षिक परिवर्तनों के कारण सामाजिक गतिशीलता है और इनका अध्ययन ऐतिहासिक तथा समाजशास्त्रीय दोनों दृष्टियों से हो सकता है।" अतीत, वर्तमान और भविष्य को ध्यान में रखते हुए बनाई गई शिक्षा व्यवस्था ही समाज के विकास का दावेदार मानी जा सकती है। इन सबका तुलनात्मक अध्ययन करते हुए समाजशास्त्रीय और शिक्षाशास्त्रियों द्वारा शिक्षा का मूल्यांकन होता है।

आज नए संदर्भ में शिक्षा और समाज के पारस्परिक संबंधों को देखने की आवश्यकता है। प्राचीन काल में जो समाज व्यवस्था थी वह आज नहीं है। विज्ञान युग के व्यापक प्रसार से दूर-दराज के देश नजदीक आ गए हैं। समाज व्यापक बनता जा रहा है और इसी व्यापक समाज की दृष्टि से शिक्षा का विचार करना चाहिए। शिक्षण अपने-आप में एक विस्तृत संसार है और उसे इस संसार का प्रतिबिंब भी कहा जा सकता है। अपने उद्देश्यों की पूर्ति करते समय वह समाजाधीन रहता है और समाज के निर्माण स्थलों में शीघ्रता लाने की दृष्टि से शिक्षा समाज की सहायता करती है। समाज की व्यापक जरूरतों को ध्यान में रखते हुए शिक्षा को उसकी सहायता करनी पड़ती है। विज्ञान युग में नए भविष्य निर्माण के लिए शिक्षा को विविध दृष्टिकोणों से परिवर्तित करते हुए सावधानी से काम लेना चाहिए।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली से मात्र सीमित कल्याण की कल्पना की जा सकती है। यथार्थ यह है कि नए वैज्ञानिक युग के संदर्भ में कृषि को लक्ष्य बनाकर शिक्षा में समूल परिवर्तन करते हुए समाजाभिमुख बनाई जाए। विज्ञान युग समाजहित से विमुख हो रहा है। अतः "शिक्षा को उत्तरजीविता, समता और स्वायत्तता की समस्याओं के समाधान में अपने को लगाना होगा, क्योंकि यहीं तीन आज के मानव की सबसे अधिक आवश्यक समस्याएं हैं। इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए शिक्षा की वर्तमान संरचना को बदलकर ऐसी वैकल्पिक समांतर रचना विकसित करनी होगी, जिसके साथ समान स्वीकृति, प्रतिफल ओर वैधता जुडी हो।"4 विश्व समाज के उज्ज्वल भविष्य की कल्पना के लिए सर्वस्वीकृत, उचित और सबको फलदायी शिक्षा नीति की आवश्यकता भविष्यकालीन समाज की मांग रही है।

*****

संदर्भ

- कृष्णकुमार – राज, समाज और शिक्षा, पृ. 61
- ग. वि. अकोलकर – शैक्षणिक तत्त्वज्ञानाची रूपरेखा, पृ. 54
- ए. के. सी. ऑटवे – शिक्षा और समाज, पृ. 14
- श्यामाचरण दुबे – शिक्षा, समाज और भविष्य, पृ. 28

“This page is intentionally left blank"

शिक्षा संवाद
2024, 11(1): 67-70
ISSN: 2348-5558
©2024, संपादक, शिक्षा संवाद, नई दिल्ली

अनुभव

बचपन, श्रम और शिक्षा

दिनेश कुमार
श्री राम इंस्टीट्यूट ऑफ एजुकेशन
गुरु गोबिन्द सिंह इंद्रप्रस्थ विश्वविद्यालय, दिल्ली

सार

ऐसे ही गलियों में पोलिश का थैला उठाए बच्चे अपने लिखने पढ़ने/खेलने की उम्र में आर्थिक तंगी को दूर करने का बिडा अपने कंधों पर उठाए गली-गली डोलते फिरते हैं। जिन कंधों को बस्ते का बोझ उठाना था वे डुगडुगी, पोलिश का थैला अपने कंधों पर उठाए फिरते हैं। ये बच्चे भी समाज देश मे शिक्षा का अधिकार पाने का पूरा-पूरा अधिकार रखते हैं, जितना कि अन्य रखते हैं। लेकिन इस बात का जिम्मा कौन उठाए की इन बच्चों को भी शिक्षा की मुख्य -धारा से जोड़ सके, एवं उनके माता-पिता भी इस ओर बच्चों को नही लाना चाहते। वे उन्हें घर की आर्थिक तंगी का हवाला देकर उनके कंधों पर बस्तों की जगह पोलिश करने के थैले तथा मदारी वाले ढोल पिटारे इत्यादि टांग देते हैं। अनके माता-पिता इनकी शिक्षा से अधिक उनको नौकरी पेशों की ओर धकेल देते हैं।

शिक्षा पाना प्रत्येक व्यक्ति का मौलिक अधिकार है जो कि प्रत्येक देश द्वारा अपने नागरिकों को दिया जाता हैं। भारत ही नही संसार का प्रत्येक देश अपने नागरिकों को पढ़ा-लिखा देखना चाहता है। इसलिए प्रत्येक देश अपने नागरिकों को शिक्षा पाने का अधिकार देता है, ताकि उसके नागरिक देश का गौरव बढ़ा सकें। जीवन जीने के लिये जिस प्रकार भोजन, पानी की आवश्यकता समझी जाती है उसी प्रकार से शिक्षा की भी नितांत आवश्यकता समझी जाती है। शिक्षा के बिना व्यक्ति का जीवन अंधकारमय और निरर्थक सा हो जाता है, जिस वजह से उसे अपने जीवन की वास्तविक राह पाने तथा अपने अधिकारों का वहन करने में चुनौतियों का सामना करना पडता है। परंतु दूसरे हाथ शिक्षित व्यक्ति अपने अधिकारों का शोषण होने से रोकता है, तथा साथ-साथ अपने जीवन को सही रुप से यापन करते हुए समाज एवं देश की तरक्की में हाथ बंटाता है। प्राचीन-काल से ही सनुष्य शिक्षा की अवश्यकता को महसूस कर चुका था, क्योंकि उसके पास अपने विचारों के आदान-प्रदान के लिये कोई माध्यम ना था। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है यह विचार सभी को भली भांति विदित है मनुष्य ने जब से सोचना आरंभ किया, तभी से ही मनुष्य को अपने विचारों के आदान-प्रदान करने की आवश्यकता महसूस हुई। इस

आवश्यकता को पूर करने में शिक्षा ने मनुष्य की सहायता की जिस वजह से एक सभ्य समाज की नीवं रखने में सहायता मिल सकी। शिक्षा की महत्ता को समझते हुए प्राचीन-काल से ही माता-पिता ने अपने बच्चों को पढ़ाने के लिये गुरुकुलों में भेजना आरंभ कर दिया था। यही प्रथा प्राचीन-काल से आधुनिक-काल में भी कायम है। पढ़ाई की महत्ता को ध्यान में रखते हुए हर मात-पिता का यही स्वप्न रहता है कि उसका बच्चा पढ़-लिखकर एक सभ्य तथा रोजगार-परक व्यक्तित्व वाला व्यक्ति बन सके ताकि उनको तथा उनके बच्चों को समाज में एक आदर-भाव की नजरों से देखा जा सके। पढ़े-लिखे नागरिकों के होने से समाज कि रुढ़ीवादिता का अंत होता है तथा साथ ही समाज में सामाजिक गतिशीलता को बढ़ावा मिलता है। समाज की तरक्की के लिये सामाजिक गतिशीलता अति आवश्यक मानी जाती है, क्योंकि समाज तथा देश की तरक्की तभी संभव है जब समाज में पढ़े-लिखे नागरिक हों।

आज भी देखा गया है कि जो लोग अपनी तीन वक्त की रोजी-रोटी कमाने में भी पूर्ण रुप से सक्षम नहीं हो पाते वे भी अपने बच्चों को पढ़ा-लिखा एक सभ्य नागरिक बनाने की जद्दो-जहद में जुट जाते हैं। इस प्रक्रिया में उन्हें भरपेट भोजन मिले या ना मिले बस उनका एक ध्येय बच्चे को पढ़ा-लिखा समाज में प्रतिष्ठा दिलाकर देश की तरक्की में भागीदार बनाना है। शिक्षा की महत्ता को समझते हुए आजादी से पहले ही गांधी जी जैसे महापुरूषों ने इसको बच्चे के सर्वोत्तम विकास के लिये अनिवार्य अंग माना है।

बच्चों कि शिक्षा के लिये तो आजादी के काफी समय पहले से ही प्रयास किए जा रहे थे, परंतु आजादी के उपरांत उन्हें कार्य रुप में लाया गया। गरीब बच्चों तक भी शिक्षा की रोशनी पहुंचे इसके लिये सरकार आज भी प्रयासरत हैं। शिक्षा गरीब बच्चों तक भी पहुंचे इसके लिये सरकार समय-समय पर कई योजनाए केंद्रिय और राज्य स्तर पर चलाती रहती है। इसी मंशा के तहत 1910-11 में उन्नीकृष्णन द्वारा देखे गए मुफ्त एवं अनिवार्य शिक्षा के सपने को साकार करते हुए बच्चों की गुणकारी शिक्षा हेतु शिक्षा का अधिकार: 2009, 1 अप्रैल 2010 में लागु किया गया। इसमें 6-14 वर्ष तक के सभी बच्चों को मुफ्त एवं अनिवार्य शिक्षा पाने का प्रावधान किया गया है। इसके साथ ही पहले से चलने वाले प्रोग्राम्स भी हैं, जो कि गरीब बच्चों कि शिक्षा के लिये एक महत्वर्पूण कदम साबित हुए हैं, यथा जिनका ध्येय बच्चों को शिक्षित कर देश की तरक्की में भागीदार बनाना है। 'शिक्षा देश प्रेमी, चरित्रवान और विद्वान नवयुवक बनाने की प्रक्रिया है।' (चांद किरण 2006)

बच्चों की रुचि विद्यालय की ओर करने हेतु तथा अपव्यय एवं अवरोधन की स्थिति को रोकने के लिये सरकार ने आंगनवाडी, मिड-डे-मिल योजना, मुफ्त पुस्तकें, वर्दी, तथा वजीफे की भी व्यवस्था की है, ताकि बच्चों को विद्यालय में लाकर शिक्षित किया जा सके। सरकार के अथाह प्रयासों के मध्येनजर आज काफी संख्या मे विद्यार्थी विद्यालयों की ओर अग्रसर हुए हैं, परन्तु आज भी काफी संख्या में शहरी एवं ग्रामीण इलाकों में बच्चे विद्यालयों में आने की बजाए फैक्ट्रियों में काम करने जाते हैं, और

कितने ही बच्चे गलियों में यहां-वहां बेकाम घूमते मिल ही जाते हैं। बात इतने पर ही खत्म नहीं हो जाती इसके साथ ही कितने ही बच्चे जमूरों के तौर पर गलियों, बस अड्डों, रेलवे स्टेशनों एवं रेलों में जमूरों का खेल दिखाते या भीख मांगते नजर आते हैं। यही कारण है कि आज भी शिक्षा उनके द्वारों तक नहीं पहुँच पाई है। यही वजह है कि हम शैक्षिक लक्ष्यों को पाने में सफल तो हुए हैं, लेकिन उस हद तक नही जो लक्ष्य आजादी के पहले से रखा गया था कि देश में सभी बच्चों (0-14 वर्ष तक) को। '2003 में 2.49 करोङ बच्चे स्कूल से बाहर थे, वही मार्च 2005 में यह संख्या घटकर 1.35 करोङ रह गई तो की अब 92 लाख के लगभग रह गई है तथा साथ ही यह भी कि लगभग 20 बच्चे कक्षा एक से दो के बीच में पढ़ाई छोड़ देते हैं। ड्रोप-आउट का यह औसत अन्य कक्षाओं की तुलना में सबसे ज्यादा है।' (सिंह 2011)'आरटीई अधिनियम की सफलता के लिये अभी जो बच्चे स्कूल शिक्षा से दूर हैं उन 80 लाख बच्चों को उपयुक्त उम्र में स्कूल जाना भी जरुरी है।' (यूनिसेफ)

ऊपर दिए गए आंकङों की सहायता से कहा जा सकता है कि आरटीई की शुरुआत में जहां करोंडों की संख्या में शिक्षा की मुख्य धारा से नही जुङे थे वे अब धीरे-धीरे शिक्षा कि धारा से जुङने लगे हैं। जिसे एक बङी उपलब्धि के तौर पर देखा जा रहा है कि आाज बच्चे आज बङी संख्या में शिक्षा ये जुङने लगे हैं जिसका श्रेय सरकार के साथ-साथ माता-पिता को भी जाना चाहिए की जिन्होन बच्चों को विद्यालय तक पहुंचा ही दिया जो कभी विद्यालय की ड्योडी भी छूना पसंद नहीं करते थे।

विद्यालय में बच्चों की संख्या बढ़ी है। कुछ सालों में यह एक अग्रणी कदम माना जा रहा है, परन्तु जहन में एक ही सवाल बार-बार उठता है कि क्या सरकार का ही दायित्व बनता कि वही सुधार करती रहे जिससे बच्चा-बच्चा विद्यालय में आए और खुदको शिक्षित करें? क्या माता-पिता या समाज का कोई कर्तव्य नहीं रह जाता कि बच्चों को कम-से-कम प्राथमिक शिक्षा तो दिलवायें? शिक्षा का अर्थ सिर्फ पुस्तकीय ज्ञान ही नही लेना होता बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि प्रकार के मूल्यों की शिक्षा भी मिलती है। विद्यालय में इन मूल्यों की शिक्षा को परिष्कृत कर सिखाता है, तथा साथ ही इनमें से अच्छी शिक्षा को कैसे ग्रहण किया जाए सिखाता है। यहां इन मूल्यों कि शिक्षा को क्रमवार रूप में सिखाकर एक निष्कर्ष पर पहुँचना सिखाता है, ताकि विद्यार्थी तर्क-वितर्क द्वारा अपनी बौद्धिक क्षमतानुसार एक निष्कर्ष पर पहुँचजीवन की समस्याओं को दूर कर सके।

यदि यहाँ देखा जाये तो शिक्षा का अर्थ यह भी देखा जा सकता है कि बच्चे को विद्यालय ही नही समाज भी शिक्षित करता है। यह प्रक्रिया जीवन पर्यन्त चलती रहती है। यहाँ यह कहना गलत ना होगा की जितना विद्यालय बच्चे को ज्ञान देता है, उतना ही समाज/समुदाय भी ज्ञान देता है। पर विद्यालय यहाँ बच्चे को मांजकर और सजा संवारकर भेजता है, तदोपरांत समाज-समुदाय मे ही उसकी शिक्षा-दिक्षा जीवन पर्यन्त चलती रहती है। परन्तु उससे पहले विद्यालय से होकर आना पङता है जहाँ उसे सभ्य बनाने के हर तरीके सिखाये जाते हैं ताकि वह समाज में बदलवों को ला सके तथा समाज/देश की प्रगती में

सहायता दे सके। विद्यालय जाना इतना महत्वपूर्ण कार्य है, परन्तु फिर भी आज 80 लाख के लगभग बच्चे शिक्षा की मुख्य धारा से नही जुड सके हैं। सरकार की इतनी कोशिशों के बाद भी आज बच्चे फैक्ट्रियों या जूते पोलिश करते नजर आ ही जाते हैं। यहाँ मैं किसे दोषी मानू? इन बच्चों कि शिक्षा के लिये कौन जिम्मेवारी लेगा? क्या अभी भी सरकार को ही कौसा जायेगा? यहाँ सरकार को मैं इतना दोषी नही मानूँगा कि जब बच्चा सरकार के इतने प्रयासों के बावजूद भी विद्यालय में नही आया। यदि विद्यालय में बच्चा इतने प्रावधानों व सहूलियतों के बावजूद भी विद्यालय से बाहर रहा, तो इसका अर्थ है कि या तो इसके पीछे उसकी गरीबी तथा गरीबी से बडा दोषी उसके माता-पिता और उसका समाज है जो कि उसे विद्यालय तक नही भेज सका। जबकि प्राथमिक शिक्षा मुफ्त दी जा रही है तथा साथ ही शिक्षा पर होने वाला खर्चा भी सरकार वहन कर रही है। और सबसे बडी बात यह की छात्रवृतियां एवं वजीफा भी बच्चों को दिया जा रहा है। इतनी सुविधायें होने के बावजूद 80 लाख बच्चे शिक्षा की मुख्य धारा से दूर हैं, जो कि एक बहुत बडा प्रश्न चिन्ह हमारी शिक्षा पर लगता है। गरीबी तो मुख्य कारण है ही पर काफी बदलावों के बावजूद भी सामाजिक रूढ़ीवादी मानसिकता नही बदल पाई है, जिस कारण से आज भी विद्यालयों में अपव्यय एवं अवरोधन रोकने तथा सर्वशिक्षा अभियान, आरटीई: 2009 को पूर्णतयाः हासिल कर पाने में सफल नहीं हो पाये हैं। सुबह-सुबह ट्रेन के डिब्बों में डुगडुगी की धुन पर जमुरे का खेल दिखाते, पैसे मांगते, पापड बेचते, पोलिश इत्यादी करते बच्चे मैं रोज ही कॉलेज आते-जाने के समय में देखता हूँ। डुगडुगी की धुन पर नाचते हुए ये बच्चे कई बार तो यात्रियों से जबरन पैसे लेने कि भी कोशिश करते दिखते थे।

ये बच्चे रेलवे से लगी झुग्गियों में रहते हैं जो कि सुबह-सुबह अपनी माताओं के साथ निकलते और शाम होते होते आखिर कार ये 7 बजे तक घर लौट आते हैं। ऐसे ही गलियों में पोलिश का थैला उठाए बच्चे अपने लिखने पढ़ने/खेलने की उम्र में आर्थिक तंगी को दूर करने का बिडा अपने कंधों पर उठाए गली-गली डोलते फिरते हैं। जिन कंधों को बस्ते का बोझ उठाना था वे डुगडुगी, पोलिश का थैला अपने कंधों पर उठाए फिरते हैं। ये बच्चे भी समाज देश मे शिक्षा का अधिकार पाने का पूरा-पूरा अधिकार रखते हैं, जितना कि अन्य रखते हैं। लेकिन इस बात का जिम्मा कौन उठाए की इन बच्चों को भी शिक्षा की मुख्य -धारा से जोड़ सके, एवं उनके माता-पिता भी इस ओर बच्चों को नही लाना चाहते। वे उन्हें घर की आर्थिक तंगी का हवाला देकर उनके कंधों पर बस्तों की जगह पोलिश करने के थैले तथा मदारी वाले ढोल पिटारे इत्यादि टांग देते हैं। अनके माता-पिता इनकी शिक्षा से अधिक उनको नौकरी पेशे की ओर धकेल देते हैं।

यह समाज का वह पिछडा तथा निर्धन वर्ग है जो कि शिक्षा कि महत्ता को समझने को तैयार नहीं होता। ये लोग सुबह से ही डुगडुबगी, पालिश के थैलों आदि को अपने कंधों पर टांगे अपने निश्चित स्थानों कि और चल देते हैं, और शाम को सूरज छिपे ही अपने घरों की और वापिस लौटते हैं। हाँ मुझे हर बार एक बात जरूर हैरानी में डालती है कि मैने कभी भी बच्चों के पिता इनके साथ नहीं देखें। इनके साथ

इनकी माताएं ही देखी हैं। इन मंडलियों में महिलाओं के साथ 6 माह से लेकर 12 वर्ष तक के बच्चे होते हैं। ये बच्चे इतनी उम्र के नही होते की इन्हें पैसा कमाने के लिये बाहर भेजा सके। यही कारण है की आज देश की आजादी को 65 वर्ष से ऊपर को चुके हैं, लेकिन फिर भी हम लाखों की संख्या में बच्चों को शिक्षित करने में सफल नहीं हो पाये हैं। जिसका निष्कर्ष हमारी शैक्षिक नितियां असफल साबित होती नजर आती हैं। ये बच्चे जब 12-13 वर्ष की उम्र लांघ जाते हैं तो इन्हें कोई काम नही मिल पाता, क्योंकि इनके पास शिक्षा नहीं होती और फिर ये चैरी, छीना झपटी जैसे कार्यों में लिप्त हो जाते हैं, जो कि एक कड़वा सत्य हैं। सुबह-सुबह ये बच्चे अपने चेहरों पर जोकर का वेश बनाकर अर्थात् काली मुछें, ढाढ़ी जो की काले रंग से उनके मुह पर बना दी जाती है, इस तरह से ये बच्चे सिर पर टोपी लगा पूरे जोकर प्रतीत होते हैं। चाहे सर्दी, गर्मी, बरसात, धूप, ठंड आदि जो भी हो ये रोज खेल दिखाने जाया करते हैं। इनकी माता रेले डिब्बे में कहीं बैठी ढोलकी को थाप दिए जाती और बच्चा डिब्बे की गलियारी में कलाबाजी खाता हुआ खेल दिखाता फिरता। कलाबाजीयों के पैसे मांगने पर लोग उसे और उत्साहित करते हुए कहते और खेल दिखाने को कहते इस प्रकार वह लोगों के मनोरंजन का पात्र बन रह जाता। कभी किसी ने उसे पढ़ने के लिये उत्साहित नहीं किया, बल्कि उसे और अधिक पैसे का लालच देकर विद्यालय से दूर कर दिया। मैने परेशन होकर एक दिन एक आंटी जी से पुछा की ये आप क्या कर रही हैं, तो जवाब मिला कि ऐसे पैसे देने से धर्म होता है। मैने कहा कि आपके बच्चों को यदी कोई व्यक्ति आपके सामने पैसे दे और पूछने पर कहे की वह धर्म कर रहा है तो आपको कैसा लगेगा? इनको पैसा देकर आप धर्म नहीं अधर्म के भगिदार बन रहे हैं। ऐसा ही एक और वाक्या है जो कि सुनने के बाद तो मेरे होश ही पाख्ता हो गए, रोज कि भांती मैं अपने सहयात्रियों समेत ट्रेन मे सफर का आनंद लेते हुए अपने कॉलेज को जा रहा था कि रोज की भांती आज फिर से वह बच्चा ढोलकी की ताल पर नाचता-गाता आया 'मुन्नी बदनाम होवै औ डार्लेंग तेरे लियो' एक दो गानों के बाद वह पैसे मांगते हुए मेरे पास आ मुझसे पैसे मांगने लगा तो मैने उस्से पूछ ही लिया कि-

तुम स्कूल क्यों नही जाता?

जाता हूँ ना।

लेकिन तुम तो यहाँ खेल दिखाकर पैसे मांग रहे हो? तो स्कूल कब जाते हो?

नही मैं अपने देश मे जाता हूँ।

ये तुम्हारा देश नही है?

नही यहाँ तो हम कमाने आया है।

तो फिर तुम्हारा देश कौन-सा है?

यम पी (एम.पी.)।

इतना कहने के बाद वह फिर से मुझसे पैसे माँगने लगा तो मैने उसे दो टॉफियाँ दी तो उसने मना कर दिया उसे पैसे चाहिये। मैने पैसे देने से इंकार किया तो वह दोनों टॉफियाँ ले वहाँ से चलता बना। मैन अपने समाज को कोसा कि कैसा समाज है जो इन बच्चों को विद्यालय की दहलीज पर नहीं पहुंचा पाया और बच्चों को देश, परदेश में अंतर ना सिखा सका। यही कारण है कि देश में जात, धर्म, रंग भेद, रूढ़ीवादी सोच, आडंबर आदि को खत्म नहीं कर सका है, क्योंकि हमारे समाज का एक हिस्सा अभी भी शिक्षा कि पहुँच से काफी दूर है। आज शाम को कॉलेज से लौटते वक्त मैं ट्रेन में बठैते ही सीट पर झपकी लेने लगा क्योंकि आज काम कुछ ज्यादा था, सो मेरी आंख लग गई। एक आवाज ने मुझे जगाया कि अंकल पैसे दो-न, मैने उसे कहा कि पैसे खुले नहीं हैं तो वह आगे चली गई। इस बच्ची की उम्र लगभग 4-5 वर्ष थी। वह पैसे मांगने के बाद दरवाजे में आकर खड़ी हो गई, ताकि गड़ी रूकने पर वह अगले डिब्बे में जाकर पैसे मांग सके। उसकी बड़ी बहन पैसे डोलू में डालने लगी। पैसे डोलू में डालते समय उन्हें गिनने की कोशिश करती हुई दो-तीन सिक्के साथ डालने लगी, परन्तु पैसे नही गिन पाई और गुस्सा होकर पैसे डोलू में फेंक गाड़ी से उतर दूसरे डिब्बे में चढ़ गई। यहाँ सिर्फ एक ही सवाल मेरे मन में उठा कि कब तक समाज का यह तबका अपना भविष्य विद्यालय की बजाय रेल के डिब्बों में खोजता रहेगा?

उपसंहार- सरकार के अथाह प्रयासों के बावजूद आज भी लाखों बच्चे विद्यालय की दहलीज से बाहर हैं और आज तक भी बच्चों का पूर्ण नामांकन विद्यालयों मे नही हो पाया है। इसके लिये हम जितना सरकार को दोषी मान रहे हैं, उससे कहीं अधिक बच्चों के वे माता-पिता और समाज जिम्मेदार है जो उन्हें विद्यालय की ड्योडी से दूर रखने की कोशिश करके आर्थिक तंगी का हवाला दे उनके कंधों पर डुगडुगी, पालिश के थैले इत्यादि टांग कमाने को भेज देते हैं। इस वजह से आज भी हम शिक्षा के उस मकाम तक पहुँचने में कामयाब नही हो पाये हैं जिस मकाम तक पहुँचने का सपना हमने आजादी से पहले का देखा हुआ है कि 14 वर्ष तक के बच्चों का पूर्ण नामांकन विद्यालयों मे हो ताकि प्रत्येक बच्चे को प्राथमिक शिक्षा मिल सके। परन्तु आज भी लाखों की तादात में 14 वर्ष तक के बच्चे विद्यालयों से दूर हैं। इसके हल के लिये सरकार और समाज को कंधे से कंधा मिलाकर चलना होगा ताकी प्रत्येक बच्चे को शिक्षा का पूरा-पूरा लाभ मिल सके। तभी हम मुफ्त एवं अनिवार्य शिक्षा का अधिकार पा सकते हैं।

*****

संदर्भ

- चाँद, के.स. (2006). *शिक्षा, दार्शनिक परिप्रेक्ष्य.* हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली.
- Ministry of Law and Justice. (2009). *Right to free and compulsory education act 2009: Frequently asked questions.* UNICEF.
- सिंह, पी. के. (2011). शिक्षा का अधिकार: एक विश्लेषण. *भारतीय आधुनिक शिक्षा*, 32(2), 1–10. एन.सी.ई.आर.टी.

शिक्षा संवाद
2024, 11(1): 73
ISSN: 2348-5558
©2024, संपादक, शिक्षा संवाद, नई दिल्ली

कविता

हिंदी का हित करें

लाला राम बैरवा 'अनुराग'
ई-मेल : anuragianuragiman@gmail.com

हिंदी के सम्मान शान का वक्त न जाए बीत
हिंदी का हित करें और जन-जन से जोड़ें प्रीत

हिंदी के बिन भक्ति-भाव, अनुराग अधूरा
आओ, मिल-जुल करें देश का सपना पूरा
और सब तरह हार, एक हिंदी में सबकी जीत
हिंदी का हित करें और जन-जन से जोड़ें प्रीत

हिंदी में बोलें बच्चों से दादी-नानी
हिंदी में रानी-परियों की कहें कहानी
हिंदी में लिख पाती भेजे आज मीत को मीत
हिंदी का हित करें और जन-जन से जोड़ें प्रीत

सब देशों के लोग बोलते अपनी भाषा
हम उधार के बोल बोलते, अजब तमाशा
अपना अमृत छोड़, पराया नीर पान की रीत
हिंदी का हित करें और जन-जन से जोड़ें प्रीत

हिंदी, जैसे भाषा की दुनिया का आसव
हिंदी, जैसे अमराई में मीठा कलरव
हिंदी, जैसे शंखनाद, हिंदी झरनों का गीत
हिंदी का हित करें और जन-जन से जोड़ें प्रीत

*****

“This page is intentionally left blank"

शिक्षा संवाद
वीरेंद्र कुमार चंदोरिया
द्वारा RZ-673/135, गली न. 19A , साध नगर, पार्ट -2, पालम कालोनी, नई दिल्ली
110045 से मुद्रित एवं प्रकाशित
दूरभाष - 09868210822.
ई मेल - sheakshiksamwad@gmail.com